(जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय की एम.फिल. हिन्दी उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल से आधुनिक काल में संक्रमण की समस्याएं और उनका स्वरुप

निर्देशक :

डॉ० नामवर सिंह

भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-११००६७

1981

प्रस्तुत कर्त्ता :

राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-११००६७

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

Gram-JAYENU
Telephone :
New Mehrauli Road,
NEW DELHI-110067

भारतीय भाषा केन्द्र

दिनांक - 3 दि० 1991

प्रमाणित किया जाता है कि श्री राजेन्द्र प्रसाद शर्मा द्वारा प्रस्तुत 'हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल से सम्बन्धित काल में कृष्ण की व्याख्यायें और उनका स्वरूप' शीर्षक लघु शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी विश्वविद्यालय में पूर्व में किसी भी प्रकार उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है।

(डा० [illegible])
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा - संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

(नामवर सिंह)
निदेशक
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

विषयानुक्रमणिका -

	पृष्ठ संख्या-
प्राक्कथन -	एक - दो
अध्याय - 1 संक्रमणकाल एवं उसकी पूर्व - संध्या पर भारत की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियां	1 - 31
अध्याय - 2 रीतिकाल के आधुनिककाल में संक्रमण और उसकी अंतर्वस्तु का विचारधारात्मक स्वरूप	32 - 74
अध्याय - 3 संक्रमणकालीन साहित्य में रूपगत परिवर्तनों का स्वरूप	75 - 99
उपसंहार -	100 - 102
ग्रन्थानुक्रमणिका -	103 - 105

-:-:-:-:-:-:-:-
-:-:-:-:-:-:-
-:-:-:-:-:-
-:-:-:-:-
-:-

प्राक्कथन -

प्रस्तुत लघु शोध - प्रबन्ध में रीतिकाल से आधुनिक काल में हुए संक्रमण से सम्बन्धित कुछ विशेष पक्षों को उठाया गया है जो कि प्रायः उपेक्षित छोड़े जाते रहे हैं। कुछ पुराने सवालों को भी नए सिरे से छेड़ने का प्रयास है। वस्तुतः रीतिबद्ध और आधुनिक साहित्य के मध्य उपस्थित एक काल को एक संक्रमित, गतिवन्त और गतिशील संघटना के रूप में देखा जाना चाहिए। दूसरी बात यह कि इस विशिष्ट साहित्यिक रंग - संयोजन को इस युग के व्यापक में हुए सामाजिक परिवर्तनों के संदर्भ में भी विश्लेषित किया जा सकता है। विभिन्न अंतर्विरोधों और प्रवृत्तियों के मध्य पनपकर आगे बढ़े संक्रमण काल के साहित्य की अंतर्वस्तु और रूपगत परिवर्तन के स्वरूप को रेखांकित करने के लिए उस काल की प्रमुख विशिष्टताओं का वस्तुगत एवं सामाजिक दृष्टिकोण पड़ताल की आवश्यकता है। इस प्रणाली के आधार पर ही ऐतिहासिक विकासक्रम में सम्पृक्त उस विशिष्ट घटना का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है।

इन्हीं मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए प्रथम अध्याय में संक्रमण युग के उन कुछ सामाजिक - ऐतिहासिक क्षणों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है, जिन पर उसके स्वरूप व गति की नींव खड़ी हुई थी।

द्वितीय अध्याय में विभिन्न साहित्यिक - सांस्कृतिक गति - विधियों की अंतर्वस्तु के गठन व विकास की दिशा को रेखांकित करने की कोशिश की गई है।

तीसरे अध्याय में रूपगत आकार - प्रकारों में हुए परिवर्तन के स्वरूप को आंकने का प्रयास किया गया है।

शोधकार्य के दौरान गुरुवर डॉ० नामवर सिंह के कुशल निर्देशन से मिले प्रोत्साहन के लिए मैं उनका आभारी हूँ ।

समय - समय पर मिली सहायता के लिए मैं साथी डी० आर० चौधरी , सर प्रकाश गोइल और भ्राता सत्य प्रकाश को आभार प्रकट करता हूँ ।

प्रस्तुत कर्ता -

Rajendra Prasad Sharma

दिनांक - 3 जून , 1981

राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

पृथम अध्याय -

संयुक्त परिवार एवं उसकी पूर्व - संध्या पर भारत की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियां -

व्यक्तिगत सामाजिक स्थिति -

भारतीय समाजवाद का अर्थ तथा पूंजीवादी विचारों के आदि स्रोतों की उत्पत्ति व विकास की रूप रेखा एवं सीमा रेखा को तथा उनके व उनकी प्रवृत्ति को समझने की दोनों विचारधाराओं के दृष्टिकोणों से तथ्य की जाती रही है। कई विद्वानों ने इस पुनियादी समस्या को ° सामुहिकता ° की भाषा एवं परिभाषा के द्वारा समझने एवं विश्लेषित करने की चेष्टा की जो कि अन्य अन्तिमकारों से हमारे उपकरणों और दृष्टि - कोणों के कारण। इस संदर्भ में अनेकों व्यक्तिवादी एवं पूंजीवादियों का भी सहारा लिया गया और उन्हीं के आधार पर निर्मित सार तथ्यों के माध्यम से संयुक्त परिवार तथा उसकी पूर्व - संध्या के सामाजिक व सांस्कृतिक विचारों की गति व प्रवृत्ति को विश्लेषित किया गया है। अगर अन्तिम निष्कर्षों पर पहुंचने की बात, इस संक्षिप्त विषय से सम्बन्धित सभाओं पर विधिवत् विषयों को आमंत्रित किया जाता तो कहीं अधिक वैधता होता। कहना न होगा कि संयुक्त परिवार और उसकी पूर्व - संध्या की आर्थिक - सामाजिक संरचनाओं के विश्लेषित संयुक्त और उनके रूप से विवेचित, उत्पन्न तथा आवेष्टित विचार

एवं सामाजिक - सांस्कृतिक आन्दोलनों के रूप में जो महत्वपूर्ण मुद्दे थे । उनकी वस्तुस्थिति एवं प्रासंगिकता का पता हमें तभी चल सकता है जब हम उस महत्वपूर्ण काल की सम्यक् गति नहीं जान सकते । हम यह भी देखते हैं कि । उस काल की गति व विकास की प्रवृत्ति के प्रतिफलन की जो भावात्मक व नकारात्मक अन्तिम परिणति उस युग के साहित्य में हुई। उसे समझने के लिए उस दौर की व्यवस्था में ढाँचे में हुए रूपान्तरणों एवं परिवर्तनों को । व्यवस्थावादी रूप से । संकुलित व सैद्धान्तिक आधारों के द्वारा देखना महत्वपूर्ण हो जाता है।

उस काल की आर्थिक - सामाजिक समस्याओं के अध्ययन की पृष्ठभूमि में महत्वपूर्ण मुद्दे उभरकर सामने आते हैं जैसे । क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रवेश की पूर्व संध्या पर भारत में पूंजीवाद अथवा उसके आदि - रूपों का विकास हो रहा था तो फिर उसके विकास की प्रवृत्ति व दिशा क्या रही होगी । द्वितीय । अगर विकास के तत्व विद्यमान थे तो क्या साम्राज्यवादियों ने उनमें बाधायें उपस्थित की ? क्या उपनिवेशवादियों ने कष्टदायक प्रक्रियाओं को लागू करने के क्रम निर्माण से अधिक ध्वंस किया तथा इस प्रकार परिणाम क्या हुआ । ये ही वे महत्वपूर्ण मुद्दे थे जिन्हें विभिन्न दृष्टिकोणों व आवश्यकताओं के लिए समझाने व हल करने की कोशिशें की गई हैं ।

ब्रिटिश - पूर्व भारत के सामाजिक - आर्थिक चरित्र के बारे में । बर्नेर ने लिखते हैं कि - " यूरोपीय विस्तार की पूर्व - संध्या पर की भारतीय संरचना के बारे में मुझे जो पूर्वधारणा तर्क - संगत लगती है वह यह कि । बाकी सभी तक व्यापारिक पूंजी के अस्तित्व में रहने तथा व्यापक पैमाने पर वस्तु - उत्पादन (वस्तुतः । व्यापक निर्यात आदि) के बावजूद । संपूर्ण (सामाजिक) संगठन ने स्वयं को पूंजीवादी संरचनाओं द्वारा भेदने की अनुमति नहीं दी । (समाज) की ऊपरी सतह पर परिवर्तनशील निरंकुश सत्ता एवं स्त्री में सक्रिय ग्राम - समुदाय की कार्यशैलियों को परिलक्षित करते हुए । उस व्यवस्थाने । विकास की नई संभावनाओं को एकत्रित कर लिया । परिवर्तनशील व्यवस्था ने । सीमित तथा संभावित आदि - पूंजीवादी (संरचनाओं के) विकास को अपने रूप में करके " पचाया " था । उससे पहले कि यह विकास । व्यवस्था

को चुनौती देते हुए उस पर थोड़ी भी विपरीत परिस्थिति कर सके ।[1] इसका तात्पर्य यह नहीं कि ब्रिटिश - पूर्व भारत में परिवर्तन हुए ही नहीं । स्पष्टतया परिवर्तन हुए लेकिन वे धार्मिक और प्रशासनिक थे, बुनियादी नहीं । सेन्य - व्यवस्थाओं की स्वीकरणों में समय - समय पर बदलाव आया , कर और प्रशासनिक पुनर्गठन किए गए , धार्मिक परिवर्तन हुए लेकिन आर्थिक व्यवस्था - संतुलनों और समीकरणों में किसी भी क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अनुपस्थिति के कारण , विकास की नई व गतिशील प्रवृत्तियों के तत्व, बीज एवं भ्रूण रूप में ही ग्रामीण विकास करते रहे । परिवर्तन की गति मन्थर , अस्पष्ट तो थी ही साथ ही निहित स्वार्थों के अथक प्रयासों के कारण नई व्यवस्था के भ्रूण मजबूती ग्रहण कर पाने में भी असमर्थ रहे । उदाहरण , मुख्य सामाजिक ढांचा , वही सदियों पुराना निर्वाहवादी सामंतीय बना रहा । परिवर्तन के मोड़ पर खड़ा करने वाली तकनीकी व व्यापारिक प्रवृत्तियों की सीमित गति विधियां व फलदें इतनी कमजोर थी कि वे स्वायत्तता पर आधारित ग्रामीण - समुदाय के ढांचे में क्रान्ति कर पाने में असमर्थ रहीं । हां , मुख्य शहरों में उसकी कार्यप्रणालियां जरूर कुछ सीमा तक कुण्ठित थीं लेकिन इस प्रकार की उत्तेजक फलदें मजबूत व्यवस्था को चित्त नहीं कर सकती थी । बुनियादी परिवर्तनों की स्थापना करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था कि अनुत्पादक , जटिल व अमानवीय ग्रामीण - समुदाय को तोड़ा जाता जो कि एक लम्बे कालक्रम में असंभव तो नहीं पर कठिन अवश्य था । केवल नमक व लोहा ही वे वस्तुएं थीं जिनकी आपूर्ति शहरी उद्योग - धंधे करते थे, इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का उत्पादन गांव स्वयं करता था । ग्राम - स्वायत्तता की इन दीवारों को तोड़ना सहज , सुलभ भी नहीं जा सकता था । और इस पर भी यह ग्रामीण व्यवस्था जो वर्ण - व्यवस्था के आधार पर श्रम विभाजन और वर्ग - व्यवस्था में बंटी हुई थी तथा जिस पर अत्यधिक केन्द्रीकृत प्रशासनिक ढांचे का पंजा कसा हुआ था । यही कारण है , विदेशी धर्म के नवीनीकरण को देखते हुए तथा उसकी व्यापारिकता को परख कर , हिन्दी धर्म की वृहदता के विरुद्ध जितने भी निर्गुण आदि आन्दोलन चलाए गए वे केवल प्रशासन द्वारा सीमित एकल व्यवस्था की तली में उसी क्षण में विलीन हो गए । ग्राम - व्यवस्था के

---

1. देखें रे - आर्थिक तथा सोशियलिस्ट इकनामिक्स इन इण्डिया ,मेनर टीय मलमपुर ऽ ,1978

निम्न - स्तरों के लोग प्रभावित व ग्रसित होना तो दूर रहा उनसे आकर्षित तक न हुए । पर महाराष्ट्र के कुछ क्षेत्रों को इसका अपवाद मानना ही पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नगरीय उद्योगों के एक तरफा विकास तथा ग्रामीण - समुदाय की स्वायत्तता ने देश में कभी भी उस तरह की अर्थ व्यवस्था का निर्माण नहीं होने दिया जिसके विभिन्न तत्व परस्पर संबद्ध व एक दूसरे पर निर्भर होते हैं तथा एक निश्चित प्रक्रिया में पड़कर ही एक विशेषम जातीयता का निर्माण करते हैं । भक्ति - आंदोलन के दौरान ° समय की मांग थी कि जाति - पाँति और धर्मों के भेद - भाव पर आधारित कुछ सामाजिक विभाजनों का जो देश - व्यापार के विकास और उसके परिणाम स्वरूप आर्थिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों के कारण अब निरर्थक हो गए थे - अन्त किया जाय । ° [1] जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं यह आन्दोलन प्रथम तो नगरों तक ही सीमित रहा द्वितीय यह कि आर्थिक विभाजनों पर आधारित भेदभाव के विरुद्ध उसमें बहुत धीमी सी ही आवाज गूंज थी तथा प्रचारकों की दृष्टिकोण क्षेत्र के आन्तरिक हिस्सों तक नहीं थी । क्योंकि प्रचारक स्वयं आर्थिक रूपों में कुछ सुदृढ नहीं थे ।° यदि यह आन्दोलन सदा के लिए सामाजिक असमानताओं और जाति प्रथा से उत्पन्न अन्यायों को खत्म नहीं कर सका । तो संक्षेपतः इसका कारण यह था कि कारीगर, व्यापारी व हस्तशिल्प , जो इस आन्दोलन का मुख्य आधार थे, अब भी कमजोर और असंगठित थे ।° [2] और यह अवश्यंभावी था उस स्थिति में जबकि ग्रामीण - स्वायत्तता ने अखिल - भारतीय स्तर में व्यापार का विकास होने से रोके रखा जिस पर व्यापारिक इकाइयों की अभिव्यापी संभावनाएं व विकास की ऊर्जाएं टिकी होती हैं ।

यहाँ तक नगरीय एवं कस्बाई उद्योगों एवं ग्राम - समुदाय के विकास का प्रश्न है उन दोनों में विभिन्न परिस्थितियों , दबावों और परस्पर अभाव के अन्य एकरा उन्नति की - चाहे वह एक सीमित परिमाण तक ही क्यों न थी । उसका एक कारण शायद यह भी हो सकता है कि

---

1. के दामोदरन , भारतीय चिन्तन परम्परा , पृ० 336
2. वही, पृ० 337

आर्थिक रूपों में एक सीमा तक स्वायत्त होने के कारण , कारीगर व उद्योगी समुदाय पर कभी भी, शासक वर्ग ने भरोसा नहीं किया इसलिए उसे विभिन्न दबावों और कठिनाइयों के साथ जीना पड़ा । ग्रामीण - समुदाय के समुदाय के साथ स्थिति बिल्कुल भिन्न थी तथा जिस स्वायत्तता को अंग्रेज ने घोषित किया था वह वहां था उससे शासक वर्ग को एक लम्बे वर्ष तक खतरा महसूस नहीं हुआ क्योंकि उसका अस्तित्व एवं संगठन सामंती ढांचा की बिल्कुल प्रकार का था । यही कारण है कि जो थोड़े - बहुत विद्रोह हुए उन्हें क्रूरता व निर्दयता के साथ दबा दिया गया ।

ग्राम , वस्तुतः प्रशासनिक ढांचे की वह इकाई थी जिस पर सारी की सारी व्यवस्था का बोझ लदा हुआ था , जिसे भूमि कर की अदायगी का काफी बड़ा हिस्सा गांव के उच्च स्तरीय लोगों जो अदा करने के साथ ही बदले में सुविधाओं के मामले पर जुल्म झेलता था ।[1] वस्तुतः गांव की भूमिका अदायगी की इकाई थी तथा जिसके किसानों के खरीफ तबके (मुकद्दम आदि) छोटे जमींदारों की भूमिका संभाले हुए थे जो कि गांव से कर की अधिकारी तक वसूली के मामले पर विभिन्न करों को थोपा करते थे । इस तरह भारतीय ग्राम - समुदाय , खरीफ तबकों द्वारा - अच्छे ढंग से नियं - त्रित शोषण तन्त्र के लिए - भूमिहीन मजदूरों तथा छोटे किसानों के शोषण का गढ था । शासक वर्ग तथा शायद जमींदारों ने इसे पूर्ण - सुविधाजनक पाया , जिसके जरिए करों में असमान वितरण से वे पूर्ण वसूली का दावा कर सकते थे ।[2] इस प्रकार कृषि भूमि पर राज्य सत्ता का आधिपत्य तथा क्योंकि उसकी निरंकुशता का प्रमुख आधार भी था । शोषण का अन्दाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि - " खेतिहर मजदूरों के उत्पादन का

---

1. The village was usually the unit of assessment of land revenue, & the upper strata of the peasants (khuddakas & the like) often sharing off into small zamindars, imposed various rules on the peasants below them, in order to make up the revenue demanded from the whole village. The Indian village community was a mechanism of subsidiary exploitation of the lower strata and the village labourers by the upper strata. The ruling class and perhaps the zamindars as well found this system quite convenient, since by permitting an unequal distribution of the revenue burden they ensured its fuller collection-Irfan Habib-Colonisation of the Indian Economy.

एक विशाल स्थाई अधिकारीतंत्र द्वारा चिसका राज्यतंत्र चलाया जाता था।[1] चिस पर बड़ी - बड़ी निर्दयी फौजों की स्थाई एवं केन्द्रीय संघ की दीवारें टिकी थीं। प्राचीन व्यवस्था पर बढ़ते आर्थिक भार से जो असंतोष के समय से ही बढ़ता चला आ रहा था किसानों एवं बेसिहर मजदूरों की आय तोड़ कर रख दी। मुगल साम्राज्य बढ़ने में विशाल सेना की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ था। उसी के बल पर साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ। पहले से उसकी आत्मनिर्भर कठिनाइयों व दोषों का आत्मनिर्भर ढ़ाँचा भी। किन्तु 1650 - 18 वीं सदियों के बीच उसका पतन ° ढीला, शिथिल, दयनीय और अभिशिप्त था। ° लेकिन दरबारी इतिहास उसके ठीक विपरीत थी। इसी से मुगल साम्राज्य के महान पेंजों को उखाड़ फेंका।

जमीन पर राज्य का स्वामित्व होने के कारण उसके व्यापारी - करण की कोई संभावना ही नहीं थी। जमीन की खरीद फरोख्त एक ऐसा महत्वपूर्ण आर्थिक घटक है जो खेती के सामाजिक सम्बन्धों के रूपान्तरण की आधारशिला रखकर मुख्य सामाजिक शक्तियों के मध्य गतिशीलता पैदा करता है। खेती की पर्याप्तता तथा व्यापारिक पूंजी के अभाव के कारण इस प्रकार की गतिशीलता संभव ही न थी। इसके अतिरिक्त शासक - वर्ग का ढ़ाँचा पहले उन्हीं पुराने आधारों पर चलने में सक्षम था। गांव की ° स्वायत्तता ° ने गांव व शहर के मध्य व्यापार एवं वाणिज्य को उस सीमा तक पनपने नहीं दिया जहाँ वह परिपक्व होकर सामन्तवादी निरंकुशता के शिकंजे को चुनौती दे सके। उसका एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी था कि ग्राम - समुदाय का सीमित उत्पादन व सुदृढ़ उद्योग गांव की आवश्यकताओं भर के लिए ही उत्पादन करता था, जिसके बदले में उसे किसानों से अनाज व दूसरी चीजें मुहैया होती रहती थीं। अतिरिक्त उत्पादन कभी भी व्यापारिक घेरे की सीमाओं को छू भी नहीं सकता था। इस तरह प्राचीन - ~~ग्राम समुदाय~~ - स्तर पर ° अतिरिक्त संचय ° की संघटना का विकास अवरुद्ध रहा जोकि पूंजीवादी विकास का मूलभूत निर्माणक - तत्व व आधार होता

---

1. Social Scientist - 32
V. I. PAVLOV-Historical Premises for India's Transition to Capitalism - P. 33.

है । कृषि के क्षेत्र में निवेश की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि शासक वर्ग की आवश्यकताएं पूर्ण - रूपेण पूरी होती रहती थी । तथा उस आवश्यकता को पूरा करने के लिए - ° मुमिकर तथा ° अतिरिक्त ° के दोहन का मूलभूत तरीका लगभग सम्पूर्ण भारत में एक सा था - संबद्ध शासक के नाम पर भूमि कर की उदायगी । चाहे उसकी उत्पत्ति के पीछे कोई भी कारण रहा हो । भूमिवादी सिद्धान्त (भारतीय कृषिव्यवस्था का) था कि किसानों के भरण - पोषण को छोड़कर बाकी का सारा उत्पादन भूमि करके रूप में वसूल किया जाय ।° इस सारे कृषि - व्यवस्था में ° नई व्यवस्था की एकि - तयों के बीज पनपने नहीं पाए - वे निष्क्रियता की गिरफ्त में फंसे रहे । किसान व भूमिहीन वर्ग उन्हीं पुराने ढर्रे में फंसा रहा । उनके प्रयत्नों में कभी भी एकीकृत - संघर्ष नहीं हो पाया ।

साम्राज्यी सत्ता के केन्द्रीकरण का आरम्भ -

कृषि अर्थव्यवस्था एवं शासकीय अर्थ - व्यवस्था में सम्बन्ध संपर्क होने के कारण ही नई एकीकृतयों का समुचित विकास नहीं हो सका । इसी कारण से व्यापारिक व वाणिज्यिक एकीकृतयों को प्रोत्साहन नहीं मिला । इसमें जरूरी स्पष्ट थी क्योंकि ° शासकीय व ग्रामीण अर्थ - व्यवस्था दोनों में से कोई एकजुट व ° आर्गेनिक ° राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का निर्माण न थी । आपस में नजदीक हो भी रही थीं तो उनकी गति अत्यधिक धीमी थी । यही वह महत्वपूर्ण कारण था जो सामाजिक आन्दोलनों तथा विद्रोहों को न तो जन्म प्रदान कर सका और न ही उनका ठोस रूप में पुनर्संयोजन एकीकृत जनता तक प्रसार हो । फिर भी कहना न होगा कि - ° ब्रिटिश पूर्व भारत में उसकी अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना में परिवर्तनकारी पुनर्-

8. The primary method of surplus extraction throughout India, had come to be the levy of the land revenue on behalf of or, in the name of the sovereign ruler, whatever its origin, it was now a cardinal principle of the Indian agrarian system, that land revenue should embrace the bulk of the surplus above the peasants needs of subsistence - Irfan Habib - in Social Scientist.

पेक्षित तत्त्व उपस्थित थे । लेकिन ये तत्त्व परिवर्तन को नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता अर्जित न कर सके । व्यापारिक पूंजी और शहरी उद्योग धीमी स्वदेशी सामाजिक शक्तियों पर आधारित पूंजीवादी शक्ति का विकास न होना , ब्रिटिश - पूर्व भारत की विलक्षण आर्थिक - राजनीतिक संरचना के कारण ही था ।[1] व्यापार के विकास व प्रसार के मार्ग में यह विलक्षण आर्थिक - राजनीतिक स्थिति ; आर्थिक - स्वायत्तता , व्यापारिक उद्योग व अत्यधिक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता ; तो एक महत्त्वपूर्ण अवरोधी थी ही साथ में शासन संचालन - व्यवस्था भी महत्त्वपूर्ण रूप थी । शक्तिशाली तुर्क , मुगल आदि अपने साथ उत्पादन की ऐसी कोई विकसित प्रणाली नहीं लाए जो समाज में नया गुणात्मकारी मोड़ दे पाती ।

धीरे - धीरे पनपे व अनीश्वर वन्तिकरोधों ने , अत्यधिक केन्द्रीकृत सत्ता को टुकड़ों में विभक्त कर दिया । एकीकरण की अक्षमता , सेनाओं के बढ़ते खर्च , उत्पादन के पुराने तौरों , बड़े - बड़े जमींदारों - सामन्तों , एकीकारणी फौजी अधिकारियों एवं शासकीय अभिजात्यों की अपनी स्वार्थों एवं कार्यवाहियों से विकसित ये आन्तरिकरोध मुगल - साम्राज्य के विघटन का कारण बने । सामन्त - जमींदार व एकीकारणी फौजी अधिकारी व शासक वर्ग सीधे - सीधे , वसूल किए गए करों का लम्बा उठाते थे । उन्होंने अपनी वफादारी शासन - प्रशासन को कर गुना बढ़ा लिया था । प्रशासित जनता से किसी भी प्रकार का लगाव न था । स्वयं वफादारी संस्कृति इस बात का ज्वलंत प्रमाण है । इसी प्रशासन के अभाव रूप के विरोध में मराठा व

- - - - - - - - - -

8. Though there existed in Pre-British India some of the pre-requisites for a capitalist transformation of Indian economy and social structure, these prerequisites could not extend so as to lead to such a transformation. The non-development of bourgeois gone on the basis of the growth of indigenous social forces, mainly commercial capital and urban industry was due to the extremely peculiar political and economic structure of pre-British Indian Society.

A.R.Desai - Social Background of Indian Nationalism P.16.

किसान वैसी सशक्त जातियों का गठन हुआ जिन्हें राम धार्मिक आन्दोलनों व विद्रोहों ने शोषण के विरुद्ध एक मोर्चे पर आने को प्रेरित किया। वस्तुतः जमींदार और क्षेत्रीय सैनिक - प्रमुख की बगावत करने पर तुले हुए से विद्रोहों की पिछली पूरी पृष्ठभूमि का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। विशेषता यह कि - " हरों के बटवारे के मसले को लेकर ही मुख्य - विरोधी आन्दोलन चलाए गए। "[1]

अर्थव्यवस्था का ढाँचा इतना कठोर और जटिल था कि उसमें ताजे और गतिशील विचारों का जन्म प्रायः असम्भव था। बिना बुनियादी परिवर्तनों के वह व्यवस्था कोई विचार भी आत्मसात नहीं कर सकती थी। यही कारण है आर्थिक - सामाजिक ढाँचे में किसी भी बुनियादी व्यवस्थान्तर व परिवर्तन की अनुपस्थिति में किसी भी प्रकार की नई राजनीतिक अथवा सामाजिक चेतना का विकास उस समय तक नहीं हो पाया। धर्म, चेतना का कोई मुख्य आधार था तो धार्मिक विचारधारा जिसके माध्यम से उस समय के निम्न स्तरों व पीड़ित जातियों ने, आप्रत्यक्ष रूप से कभी - कभी प्रत्यक्ष रूप [साहित्य व धार्मिक छान्ति एवं छुट - पुट विद्रोह आदि] में अपनी पीड़ाओं को अभिव्यक्ति दी।

आर्थिक प्रणाली के अनुरूप ही सामाजिक विचारों, सांस्कृतिक प्रणालियों और विचारधाराओं की भी वही स्थिति थी। उनको बनाए रखने की प्रबल क्षमता थी। सामाजिक सम्बन्धों के स्वीकरणों के स्थायित्व में, चित्त पर दासकाल की पकड़ अत्यन्त मजबूत थी, समाज को किसी भी नवीन विकल्प से दूर रखा। सामाजिक विभक्तीकरण की बुनियाद भी कुछ इस तरह की थी कि आर्थिक व सांस्कृतिक तौर पर सभी जातियों के पास नहीं जिन्होंने आनुवंशिक निम्न ही जातियों, गरीब किसानों, भूमिहीनों, कारीगरों तथा समाज के अन्य कमजोर वर्गों को संगठित होने का मौका ही नहीं दिया।

- - - - - - - - - -

[1] The struggle for a larger share of the rent was one of the motive forces behind the separatist anti-Mughal movements, which were led by local chiefs.

V.I.PAVLOV-Historical premises for India's Transition to Capitalism. P.61.

° प्रयुक्त और सामाजिक प्रतिष्ठा ० मुख्य रूप से ० परम्परागत सत्ता से जुड़ी जातियों के हाथों में रही । जातिगत ढांचा में सर्वांगभी गतिशीलता ने न केवल जातियों का विघटन बल्कि उनके सोचने के ढंग को भी प्रभावित किया । इसने राजनीतिक रूप से भक्ति आन्दोलन को प्रभावी बनाया । लेकिन आने वाली शताब्दियों में नानक के अनुयायी एक प्रभावशाली राजनीतिक घटक के रूप में सामने आए । लेकिन क्रूरतापूर्वक शासन का परम्परागत तरीका 19 वीं सदी के अन्त तक जारी रहा ० जबकि विभिन्न कारणों से अस्तित्व में आए मध्यवर्ग की नई राजनीतिक मांगें उभर कर सामने आईं । ° [1]

अंग्रेजों की पूर्व संध्या पर -

ब्रिटिश - पूर्व भारत के आर्थिक ढांचे में बुनियादी परिवर्तन न होने के कारण आर्थिक सामाजिक ढांचे का मुख्य स्वरूप कमोबेश निर्बाधतावादी सामंतीय ही बना रहा । एकीकरण की कोई ठोस

1. Authority and social prestige associated with the centre traditionally associated with power. The lack of vertical mobility in society isolated the centre and by the same time or token isolated the thinking within the centre. This made the theistic covenant politically ineffective during this period. In subsequent centuries, however the followers of Nanak for instance, developed into an effective political community. But the traditional pattern of opposition to orthodoxy was to continue until the late 19th Century. When with the emergence of Indian middle-class as a result of various factors, a new/Radha Thapar- A History of India- P.
Social and political pattern began to emerge.

था तो केवल धर्म । जिसके अन्तर्गत रामानुज आदि ने लोगों को उनकी अपने धार्मिक धारणाओं एवं विश्वासों के आधार पर परस्पर नजदीक आने का मार्ग दिखाया । या फिर एक राजनैतिक ढांचा जो केवल दक्षिण की एकता ही पैदा कर पाया । इसी वजह से उन सूत्र शब्दों का विकास संभव न हो सका जो विभिन्न जातियों के मध्य आर्थिक व राजनीतिक व सामाजिक आय - एकता तथा एकीकरण के मजबूत सूत्रों का निर्माण कर भविष्य मावी बेहतर स्थितियों पर आधारित जाति व समाज एवं संस्कृति की नींव डाल सकें । स्पष्टतया , ° वस्तुगत एवं व्यक्तगत परिस्थितियां । सामान्य आर्थिक, सामाजिक व राजनीत व्यवस्था तथा उन पर आधारित व्यक्तगत चेतना । शिटिएर - पूर्व भारत की राष्ट्रीय संस्कृति में उपस्थित ही नहीं थी । मुख्यतः एक राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण , आर्थिक विकास के लिए , राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों के एकीकरण से होता है । एक सामान्य आर्थिक जीवन एक आम आधार का निर्माण करते हुए , कालक्रम में एक जाति को मजबूत बनाते हुए उसे सुदृढ राष्ट्र का स्वरूप देता है । °[1]

उपरोक्त की विश्लेषित की गई परिस्थितियों के तहत संक्षेप में भारतीय सामाजिक - आर्थिक व्यवस्था में क्रांतियों से पूर्व प्रवेश किया तो पाया कि भारतीय आर्थिक ढांचे में बिना बुनियादी परिवर्तन किए न तो वे अपने आर्थिक हितों को कार्यान्वित कर सकते थे और न ही विरोधियों को ध्वस्त हुए परिस्थितियों को अनुकूल कर सकते थे । वे उन तथ्यों से भलीभांति परिचित हो चुके थे कि ० किस प्रकार भारतीय व्यापारी वर्ग निर्दुष्ट शासन तंत्र के मातहत रहकर अपने कार्य क्षेत्रों को विस्तृत करने में असमर्थ होने के साथ ही बेचैनी अनुभव कर रहा था । इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादियों के पास एकाधिकार की नवीन व कुटिल विधियां थीं जिनसे पहले हुए ढांचे में पी० पूर्ण रूप किया जा सकता था । उन्होंने धीरे - धीरे व्यापारिक क्षेत्रों में अपनी स्थिति को मजबूत बनाया तथा एक समय ऐसा आया कि देश के अन्दरूनी व्यापार के कुछ हिस्से को छोड़कर बाकी अर्थव्यवस्था व व्यापार पर उनका आधिपत्य स्थापित हुआ । इसके साथ ही ० साम्राज्यवादियों ० अपने विकसित साधनों एवं तकनीकों के बल पर अर्थशोषित सामन्तवादी शक्तियों को परास्त किया । यह भारतीय आर्थिक - सामाजिक तंत्र के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया थी जिसमें साम्राज्यवादियों के हितों को सर्वोपरि मिली तथा समूचा भारतीय तंत्र उनका सहायक बना । हितों को क्रियान्वित करने व पूर्ण कर लेने के दौरान जितने भी परिवर्तन हुए वे उपनिवेशवादी हितों के सहायक व गौण थे उनकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता न थी । परिवर्तन ० जिन्हें लाया गया भारतीय आर्थिक व सामाजिक ढांचे के अपने अंतर्विरोधों की पैदावार नहीं थे । इसी कारण यह दौर अत्यधिक कष्टप्रद ० सांस्कृतिक व सामाजिक एवं आर्थिक विपदाओं और उत्पीड़न से भरा पड़ा है । पुरानी शक्तियों का स्थान ग्रहण करती हुई नई सामाजिक - आर्थिक - सांस्कृतिक शक्तियों और सम्बन्धों का यह काल ही संक्रमण युग है ।° हम कह सकते हैं कि - ° यूरोपीय - पूर्व भारत में सदियों तक लगभग स्थिर तंत्र पनप रहा जिसमें ग्राम - समुदाय के उच्च स्तरों से लेकर सामन्तीय जमींदार मुगल साम्राज्यवाद तक राज्यों के केन्द्रीकृत फौजी - प्रशासनिक ढांचों तक जड़ व रूढ़िवादी सामाजिक शक्तियों का गठन ० पुनर्जीवन व पुनरुत्पादन होता

रहा। इस संघ पर करारी चोट की साम्राज्यवाद ने, जैसे कि इसे छिन्न भिन्न होते हुए पाया वैसे ही नष्ट करने में सफलता पाई।[1]

नई परिस्थितियों के विकास का आरम्भ -

ब्रिटिश - साम्राज्यवादियों के मुख्य उद्देश्य थे कम्पनी के मुनाफों को बढ़ाना, अपनी भारतीय जायदादों को ब्रिटेन के लिए अधिकाधिक लाभप्रद बनाना तथा भारत के साथ ब्रिटिश शासन का मजबूत सम्बन्ध कायम रखना। ये सब लक्ष्य इन लक्ष्यों के सामने गौण थे। भारत सरकार के प्रशासनिक ढाँचे आर्थिक ढंग को इस प्रकार रचा गया और विकसित किया गया कि इन लक्ष्यों की पूर्ति हो सके[2] इस दिशा में बड़ा प्रयास था भूमि का स्थायी प्रबन्ध क्योंकि - "ब्रिटेनवासी के लाभों का ढाँचा साम्राज्य में सबसे अधिक भूमिकर में था। भूमि कर ही अधिकतम सीमा पर ही, लाभ की अधिकतम निर्भर है।"[3] ऐसे उपनिवेशवादी पहलू समझे थे।

1. We can say that in India's pre-european society, there had existed for centuries a relatively stable mechanism of reproduction of conservative social forces, ranging from the upper stratum of the rural society (community), the feudal landlords, to the centralised military- administrative machinery of the Mughal empire or other states. The mechanism was dealt a severe blow by imperialism which deformed but failed to destroy it.

Baren Ray Origin of capitalist development in India M.Stroen Nov 6, 1970

2. विपिन चन्द्र - आधुनिक भारत, पृ० 71

3. The source of conquest profits, however, lay not in commer but in land revenue. Monetisation of land revenue was necessa for the realisation of profits. Eric Hobsbawm Pre-Colo; of the Ind economic H. Colonialist No. 32

भूमि - व्यवस्था में ° स्थायी बन्दोबस्त ° का परिणाम हुआ खेती के सामाजिक सम्बन्धों में ° निजी संपत्ति ° का उदय । जिसने भूमि को एक ऐसे माल का रूप दे दिया जिसे खरीदा व बेचा जा सकता था और इस प्रकार जमीन खरीदने , बेचने एवं एस्तांतरण की प्रणाली का नया रूप सामने आया । ° भूमि व्यवस्था में ° स्थायी प्रबन्ध ° की प्रणाली के माध्यम से ब्रिटिश-उपनिवेशवादियों ने [1793] आर्थिक परिवर्तनों की सिलसिला शुरुआत की जो कि शोषण की दृष्टि से बहुत पूर्ण । इस प्रक्रिया में जमींदारों में सामन्तीय शासक वर्ग को उसकी राजनीतिक शक्तियों से वंचित कर दिया और पूंजीवादी मातृभूमि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत के सामन्तीय सामाजिक - आर्थिक ढांचे को स्थापित करना शुरु किया । ° भूमि में इस प्रकार के स्वामित्व से कृषि - सम्बन्धों में नए प्रकारों की सींच आयी । यह बुनियादी परिवर्तन था जिसने भारतीय गाँव स्वायत्तता और स्वाबलम्बी स्थिरता को छिन्नभिन्न कर दिया । ब्रिटिश पूर्व भारत में ° राजस्व की वसूली की पुरानी प्रणाली यह थी कि पैदावार का निश्चित हिस्सा ही राजस्व घोषित कर दिया जाता था । किन्तु, उन विभिन्न कारणों से पैदावार कम होती थी, तो उसी मात्रा में राजस्व भी कम हो जाता था । किन्तु, शासकों की पुकारत में यह रुपए - पैसों में निश्चित किया गया , भले ही पैदावार की मात्रा कुछ भी क्यों न हो । से किसान , जो कर की अदायगी के लिए आवश्यक धन एकत्र नहीं कर पाते थे । अपनी जमीन को या तो गिरवी रखने या बेच देने पर बाध्य होते थे । प्राय: ऐसी जमीन को , लगान के बकाए के रूप में , धनी निवासी कर ही जाती थी । इसका परिणाम यह हुआ कि जमीन बड़े पैमाने पर हस्तों के हाथों में चली गयी । इस प्रकार यह परम्परागत कृषि - व्यवस्था टूटने लगी

---

1 Through the introduction of this permanent settlement system the British Colonialists provided a legal frame work for the case of economic change which took as result of the conquest of Bengal. The British conquerors had displaced the ruling feudal class of political power and started to modify the socio economic order of feudal-India to suit the needs of the capitalist mother country. A History of India Vol.-II PP Nagar P 90

जिसकी बुनियादी इकाई ग्राम समुदाय था।[1] यह , वस्तुतः ग्रामीण समाज का आर्थिक व सामाजिक ढांचा परम्परागत विघटन की तीव्र प्रक्रिया में आकर टूटा। किसी सम्पत्ति से उसके प्रतिलाभदाई आर्थिक सम्बन्धों तथा बाजार से पुराने सम्बन्धों को छिन्न - भिन्न कर दिया। गांव का व्यापक सामाजिक आदान - प्रदान के माध्यम से व्यापक अर्थ - व्यवस्था का सिलसिला जमने लगा। उनका धार्मिक , आर्थिक व सांस्कृतिक आधार टूट गया था। लेकिन उभरती नई सामाजिक - आर्थिक परिस्थितियों को उपनिवेशवादियों ने पूर्ण रूप में रखा। उन्होंने एक तरफ तो नए परिवेश - प्रतिकरणों को अपनी दृष्टि के नीचे रखा तो दूसरी ओर पुरानी परिस्थितियों को बनाए रखने का लगातार प्रयास जारी रखा। उन्होंने दोनों को इस प्रकार परिवर्तन किया कि - " अतिरिक्त उत्पादन का अधिकांश हिस्सा तो कम्पनी की झोली में चला गया। कुछ - कुछ में बहुतों का हेरफेर ।। सारे हिसाब की जमींदार के लिए नियत था। इस प्रकार नियत दरों के कारण जमींदार एक सीमा तक - संरक्षण प्राप्त श्रेणियों में आ गए।[2]

भूमि - व्यवस्था एवं क्रान्तिकारी नीति का " परिणाम यह हुआ कि ग्राम विक्रेताओं और महाजनों तथा बिचौलियों के हाथ में बिक्री की भी० विपदायें बढ़ गईं। आबादी में बेरोजगार मजदूरों का अनुपात और अधिक बढ़ गया। कारीगरों के धन्धे चौपट होने लगे। देहातों के दस्तकार लापता हो गए। बढ़ते हुए कर्ज और कंगाली के साथ - साथ दो - तीन अकालों और महामारियों के प्रकोप से सामाजिक जीवन का ताना - बाना तेजी से टूटने लगा।[3] इस

---

1. के दामोदरन , भारतीय चिन्तन परम्परा , पृ० 365

2. The bulk of the surplus went to the company. The share of the Zamindar to begin with, was fixed at only an effective eleventh part of the land revenue supposed to be assessed on the peasants The Zamindars were thus really gents in the sale of little more than hereditary revenue farmers with fixed locale. Refer Habib Ali of Ind. Eco. S. Gelendist Pp.32

3. के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा , पृ० 366

प्रबन्ध से जमींदारों के ऐसे वर्ग की नींव पड़ी जो अंग्रेजों का सहायक था।[1]

साम्राज्य और परिवर्तन -

अब कोई भी शक नहीं कि साम्राज्यवादी नीतियों ने भारतीय - इतिहास को एक परिवर्तनकारी मोड़ पर ला खड़ा किया जिसने उपनिवेशवादी शोषण में स्थिति को और अधिक नाजुक व दयनीय बनाया। नई व्यवस्था के देशी पीछ , जो पहले से ही सामन्तवादी प्रतिक्रिया तथा दबावों से ग्रस्त थे, जो शोषण - प्रक्रिया में सहचयित करके अधीनस्थ कर लिया गया। इस साम्राज्य वर्ग के तरल - 18 वीं व 19 वीं के पूर्वार्द्ध में - इतने एकीकृत नहीं थे कि अपने हितों की रक्षा के लिए साम्राज्यवादियों से लड़ सकें। क्योंकि इन उदीयमान तरल ने का एक बड़ा हिस्सा तो पहले ही सामन्तवादी युगों शोषण में लिप्त रहा था , बाकी हिस्से को औपनिवेशिक हितों ने पंगु बना दिया। लेकिन औपनिवेशिक हितों के तहत रहकर भी ये तरल अपना विकास कर रहे थे। जैसे ही ° बाद में यूरोपीय व वर्ग ने कच्चा माल , खनिज आदि कृषि उत्पादों ‖ दीक्षण - पूर्व एशिया व गल्फ के लिए ‖ को व्यापार के लिए उठाना शुरू किया , तब तक भारतीय व्यापारी पहले से ही काफी मात्रा में व्यापार के व्यापार में लगा था , तथा जिसने सीधे - सीधे अपनी प्रमुख भूमिका का विकास किया साथ ही उससे जुड़े विकास वर्ग ने भी । इस तरह उस भारतीय व्यापारी वर्ग का उदय हुआ जिसने आत्मपूर्ण माल बनाये हुए , आन्तरिक अर्थ - व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आत्मपूर्ण व्यापारिक सम्बन्धों का जन्म हुआ जिन्हें ऐतिहासिक सिंहावलोकन में मुक्त कीर्ति दोने दिया था।[2]

---

1. रजनी पाम दत्त, आज का भारत , पृ0 245

2. Later, when europeans also began to take large quantities of rice (for e.g. Asia and Caribbean) tobacco and some other Agricultural products, the Indian merchant, who was already lifting large quantities of raw cotton, began to develop a direct dominant position vis-vis a peasantry also. In this way a New Indian Commercial Class emerged which made un-precedented gains in absolute terms as well as quantitatively increased its relative role in the total internal economy. Unprecedented

इन स्वदेशी पूंजीवादी तत्वों ने ० यूरोपीय पिट्ठूदारों के रूप में व्यापार में हिस्सा लिया। जहाज - निर्माण ० बैंकिंग आदि के क्षेत्रों में ये काफी विकसित हो चुके थे। इस प्रकार ° यूरोपियनों के द्वारा किए गए राजनीतिक व फौजी दबाव ०प्रतिकूल शर्तों द्वारा की गई व्यापारिक छूटपाट तथा आन्तरिक व्यापार में वाणिज्यीय वर्ग की उदासी भूमिका ० ये सब एक दूसरे की पूरक प्रक्रियायें थीं जिसने पुरानी अर्थ व्यवस्था को छिन्न - भिन्न कर दिया। तथा ° सामन्तीय विनिमित उत्पादन ° को इस तरीके से इस प्रकार घाटा गया कि सामन्तीय - कुलीनों के हिस्से कम तथा व्यापारियों के हिस्से अधिकतम आया। °[1]

एरफान हबीब लिखते हैं कि - ° सन् 1600 व 1650 ई० के बाद साम्राज्यवादियों का उपनिवेशवादी उद्देश्य ० भारतीय वस्तुओं के अधिकार से हटकर ० भारतीय बाजार में परिवर्तित हो गया। ° इंग्लैण्ड भारत कच्चे माल का स्रोत भी बना रहा ° ० ० ० इस परिवर्तित उद्देश्य के तहत ० ईस्ट इंण्डिया कम्पनी का न केवल समुद्र - पारीय व्यापार व वाणिज्य पर बल्कि आन्तरिक बाजार पर उसका एकाधिकार स्थापित हुआ। इसके संचालन के लिए युक्त - व्यापार की आवश्यकता महसूस की गई। 1813 ई० तथा 1833 ई० के घोषणा पत्रों ने इन परिवर्तनों को पूरा किया। °[2] इस प्रकार 19 वीं सदी की

- - - - - - - - -

processes opened up which hither-to had forever been denied to it under the Asiatic system. Essay on my origin of Capitalist development in India-Mainstream No.6 1978.

1. The politico-military attacks by the European powers, their overall loot through trade under increasingly adverse terms and the increasing role of the commercial class in the internal economy) were mutually complementary processes in undermining disrupting the old economy, channeling the transfer of the social surplus so that less went to the feudal bureaucratic sections and more went to the merchants. Ibid Mainstream Nov.4, 197 C

2. We have said that during the period of about 1000 to 1050, the colonial objective changed from ruining the Indian Commodities to ruining the Indian market. The changed objective did not only make the East India Company's monopoly over internal Indian Commerce and overseas trade obsolete but positively required free trade. The charter acts of 1813 & 1833 largely accomplished this Change. Irfan Habib-E. scientist No.32

अनुसार भारत के दूसरे अनौद्योगीकरण से पूर्व । पंजाब कपड़े के अनौद्योगीकरण तथा द्वितीय कच्चे माल के दोहन तथा भारतीय बाजार की एग्लैंड के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कच्चे माल के लिए खोज देने से । एक तरह हम पाते हैं कि भारतीय हस्तकला उद्योग पर असली चोट 1813 ई० के बाद पड़ी जब उन्होंने न केवल विदेशी बाजारों को बल्कि अपने महत्वपूर्ण देशी बाजार को भी खो दिया । इस परिवर्तनों उत्पीड़न , अराजकता तथा बेरोजगारी में और अधिक इजाफा ही किया ।

आर्थिक उपनिवेशवादी काल -

° ब्रिटिश शासन के द्वितीय चरण में लागू पूर्ण अनौद्योगीकरण की नीति के पीछे भी कई कारण हैं । जहां - जहां कम्पनी की प्रभुसत्ता स्थापित हुई, वहां पर उत्पादन बजाय भारतीय शासक - वर्ग के हाथों में जाने के अंग्रेजों की गिरफ्त में चला गया जिसने औद्योगीकरण की प्रक्रिया पर गहरी - चोट की । इस प्रकार दोनों का हनन तथा भारतीय बाजार हस्तान्तरण दोनों एक दूसरे से जुड़े थे ।[1] ° इस तरह 19 वीं शताब्दी की अनुसार , भारत के दूसरे अनौद्योगीकरण से पूर्व प्रथम , भूमि कर तथा अन्य लगानों के माध्यम से द्वितीय औद्योगिक क्रांति के लिए कच्चे मालों तथा बाजार के रूप में । भारतीय उपनिवेश की , ब्रिटेन के माध्यम से पूंजीवादी जगत में प्रवेश एवं माध्यम के रूप में उसका विकास बनने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी, वस्तुतः , वास्तव में देश के भीतर उत्पादन के सामन्तवादी संरचना एक अच्छी मात्रा में , इस

---

1. This was also applicable for ° de-industrialisation of India, which marks the second phase of British rule. The urban decline, initiated by the diversion of surplus from the Indian ruling classes to the company, spread quite quickly and naturally wherever the east India Company's sovereignty extended.

Irfan Habib-Colonization of the Indian economy social scientist no.22

भी सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। जैसा कि हम देखेंगे, इस प्रकार के विशिष्ट सम्बन्धों की उपस्थिति के कारण ही विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक आन्दोलनों का एक अनोखा लेकिन विशिष्ट चरित्र था क्योंकि जमींदारी के 33 वर्षों बाद इस भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है तथा जिसने प्रगति के मार्ग में एक सीमा तक, विभिन्न बाधायें उपस्थित की हैं। ऐतिहासिक रूप में, इस धुरे - जिसे सम्बन्धों का सामाजिक - आर्थिक स्वरूप एवं वास्तव में ब्रिटिश कृषि नीतियों का ही नतीजा रहा है। परीक्षण की सुविधा में सम्बन्धों के विभिन्न प्रकारों को क्षेत्र के विभिन्न हिस्सों में लागू किया गया। नीतियों में सामन्तीय सम्बन्धों का आंशिक विघटन तो हुआ लेकिन इस क्षेत्र में समाप्त रूप से नहीं। हम यह भी पाते हैं कि जमींदारी के जिस स्वरूप का निर्माण उपनिवेशवादियों ने किया, वह इस प्रकार की आंशिक व अपूर्ण प्रवृत्तियां थी। कई राज्य सामंतीय सम्पत्ति के आधारों पर टिके रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी में विद्यमान आर्थिक सामाजिक सम्बन्धों में विद्यमान सामन्तीय, पैतृक, साम्प्रदायिक और जातिवादीय सम्बन्धों की प्रबलता तथा प्रभाव ने न केवल उदीयमान पूंजीवादी तत्वों को परिपक्व होने से रोका वरन् वस्तु - उत्पादन के मार्ग में भी अवरोध पैदा किए। इन्हीं के साथ जातिगत, सामाजिक एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों की विशिष्ट भूमिकाओं ने भारतीय समाज के सामाजिक विकास की गति को क्षीण किया। लेकिन जिस तरह की विकास की गति थी, उसे वे रोक नहीं पाए। परन्तु क्षेत्र के आगे आने वाले राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक चित्र पर उसका गहरा व दूरगामी असर पड़ा। स्थायी जमींदारी बन्दोबस्त लागू करने के पीछे उपनिवेशवादियों के सुनिश्चित उद्देश्य थे। एलेन कम दत्त का कहना है कि - "स्थायी जमींदारी बन्दोबस्त का उद्देश्य अंग्रेज के हाथ पर जमींदारों का एक ऐसा नया वर्ग तैयार करना था जो अंग्रेजी राज के लिए आधार (सामाजिक) का काम करे। अंग्रेजों ने यह महसूस किया कि उनकी संख्या काफी कम है और वह एक विशाल आबादी पर अपना आधिपत्य कायम रखना है इसलिए अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए एक सामाजिक आधार तैयार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने एक ऐसा नया वर्ग पैदा किया जो लूट - खसोट का एक हिस्सा पाकर अपने निहित

स्वार्थ को अंग्रेजी राज के बने रहने के साथ जोड़ दे । [1]

ग्राम - व्यवस्था का निर्माण कृषि एवं उद्योग सम्बन्धी व्यवस्था की पहचान पर आधारित था लेकिन अंग्रेजों ने नष्ट कर दिया गया । इस तरह लगभग दो - शताब्दी से दोनों भारत का स्वाभाविक विकास कृषि उत्पादक उपनिवेश में कर दिया । यह बात भी कम महत्वपूर्ण नहीं थी कि कृषि सम्बन्धी में वह भी सामन्तवादी तत्व एक परिवर्तन के रूप में मौजूद थे । [2] इस प्रकार सब कुछ तो ब्रिटेन ने एक भयानक और ऐसी सामाजिक - आर्थिक क्रान्ति कर डाली जैसी कि पश्चिम में इस प्रकार की पहली क्रान्ति थी । [3] इस क्रान्ति ने न केवल पुराने औद्योगिक ढांचों को नष्ट कर डाला और उन ढांचों में रहने वालों की गांवों की और खदेड़ दिया वरन् गांवों के आर्थिक जीवन का संतुलन भी बिगाड़ दिया । यही उन्नीं क्रान्तिकारी [4] नीतियों तथा मुक्त व्यापार [5] का परिणाम था जो [6] न केवल आर्थिक क्षेत्रों पर बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक व धार्मिक क्षेत्रों पर भी उसी तत्परता के साथ क्रियान्वित थीं ।

जैसा कि हम देखते हैं उपनिवेशवादियों ने नए शहरों का निर्माण किया जिनके लिये की तरह उसे में पूरी तरह कामयाब रही । स्थिति को और अधिक मजबूत करने के लिए उन्होंने नई शिक्षा प्रणाली लागू की । यह शिक्षा प्रणाली प्रथम तो अंग्रेज कर्मचारियों को उपलब्ध से लाने के स्थान पर सस्ती पड़ती थी द्वितीय उसने साम्राज्यवादी पूंजी तथा नए [7] - शहरों के मध्य पुल का काम किया । अंग्रेजी शिक्षा का अधिकतर लाभ उसी नए वर्ग ने उठाया क्योंकि पुरानी मिट्टिया वर्ग तो लगभग - ध्वस्त हो चुकी थी, अन्य तो उसका भाग लाभ नहीं कर सकते थे । इस शिक्षा का उद्देश्य " जन शिक्षा " से कहीं नहीं था । परम्परागत उद्योग के नष्ट होने से मजदूर एवं कारीगरों की ओर कम ध्यान दिया गया । इस प्रकार अंग्रेज जनता शासन के सम्पर्क में लाती की गई । शिक्षा का अधिकतर लाभी नए उदी - यमान वाणिज्य वर्ग ने भी उठाया । अंग्रेजी शिक्षा की स्थापना इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर की गई थी । मैकाले ने भी घोषणा की थी कि - " हमें इस समय एक ऐसा वर्ग पैदा करने में पूरी शक्ति लगानी चाहिए जो हमारे

---

1. रजनी पाम दत्त, आज का भारत, पृ० 268

और उन लाखों लोगों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं । दुर्भाग्यवश वह सच नहीं है - ऐसे लोगों का एक वर्ग, जिसका रक्त और रंग भारतीय हो । किन्तु जो रुचि, विचारों, नैतिकता और बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज हो ।[1] यह वर्ग - शिक्षा की एक सुदृढ योजना थी तथा उसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि - " शिक्षा एक ऐसा कृत्य यन्त्र व अस्त्र था, जिसे अंग्रेजों ने भारत में अपने प्रभुत्व को सुदृढ बनाने के लिए किया । यह एक साथ ही भारत के निवासियों को ब्रिटिश सम्राट के प्रति वफादारी में प्रशिक्षित करने और साथ ही जीवन के सम्बन्ध में पश्चिमी विचारों और पद्धतियों को प्रचलित करने की एक व्यवस्था थी ।"[2]

शिक्षा व्यवस्था -

अभिलेखागारियों के आधार में सम्बन्धित कुछ प्रकाशित रचनायें थीं अतः ऐसी कोई समस्या नहीं थी जो उन्हें कुछ भी लिखने से रोक सके । ब्रिटिश - शासकों के पदार्पण के बाद में उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा लागू की क्योंकि - " व्यापारी दृष्टिकोण के कारण जो वैभवशाली वर्ग पैदा किया था अपने मालिकों के पक्ष में ही गया । अंग्रेजी पढे - लिखे वकीलों और सिविल कर्मचारियों की अत्यधिक मांग थी । 1837 में फारसी को हटाकर अंग्रेजी को अदालती भाषा का दर्जा दे दिया गया ।"[3] लार्ड मैकाले ने 1835 ई० में स्वयं यह घोषणा की थी कि - " अंग्रेजी शिक्षा से शिक्षित लोगों को सरीयता दी जायगी । " इन उद्देश्यों की पूर्ति में ऐसा भी शिक्षितों ने भी अत्यधिक सहायता की तथा लोगों में साम्राज्य के प्रति भक्ति - भावना पैदा की । " लेकिन यह सच्चाई का सिर्फ एक पक्ष था । शिक्षितों ने जिस जोर - शोर के साथ जाति - प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई । और अस्पृश्यता और छुआछूत के

---

1. मेकाले, ब्रेज एण्ड पोयट्री, पृ० 124 - 29
2. विश्वेश्वरानन्द, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 536
3. डी० पी० मुखर्जी, मार्क्स पंडित कल्चर, पृ० 88

Diss
0,152 N7E-M
152 MI
TH-642.
NEHRU UNIVERSITY LIBRARY JAWAHARLAL

विरुद्ध आन्दोलन किये । साथ ही मूर्ति - पूजा । बाल - विवाह और सती प्रथा व अन्य धार्मिक रीति - रिवाजों के विरुद्ध अपना आन्दोलन चलाया । उसने भारतीय जनता की सामाजिक चेतना में जागृति पैदा की ।[1]

यहां न होगा कि अंग्रेजों की शिक्षा नीति के राजनीतिक व वाणिज्य पक्ष थे जिनको ओझल कर देने के लिए ही अनेकों उपाय किए गए । लेकिन शिक्षा का लाभ उठाने वाला । मुसलमानों तथा उच्च जातियों का दायरा कहीं छोटा था लेकिन परीक्षा अवधि में उसकी अच्छी पैठ थी । लेकिन यह दायरा । धीरे - धीरे बढ़ता ही गया । कहना न होगा कि इसी शिक्षा - नीति ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था तथा उसके अन्य संस्थानों की मदद से पुराने परम्परावादी सामाजिक ढांचे का तहस - नहस एवं विघटन किया । साथ कुछ ही साम्राज्यवादियों के स्वामिभक्त बने तो कुछ लोगों ने । इसी शिक्षानीति से उत्तेजित से प्रभावित होकर । स्वतंत्रता के बीज बोए तथा संस्कृति का सूत्रपात किया । इसी शिक्षा की एक भूमिका ने । शिक्षा पर ब्राह्मणों के एकाधिकारवाद को चुनौती दी तथा सामाजिक गति - शीलता की नींव डाली । डा० सादोदरन लिखते हैं कि - " अंग्रेजों की शिक्षा नीति ने भारतीय बुद्धिजीवियों का एक ऐसा नया वर्ग पैदा किया । जो पश्चिमी - विज्ञान के कुछ तत्वों तथा पश्चिमी के अधिक उन्नत सांस्कृतिक मानदंडों को समझने और आत्मसात करते थे, और साथ ही । स्वयं अपनी आत्मतुष्टि की उपलब्धि के लिए उनका उपयोग करते थे ।"[2]

मध्यवर्ग का उदय और भूमिका -

ब्रिटिश पूर्व भारत में मध्य वर्ग का अस्तित्व तो था लेकिन व्यावसायिक एवं वाणिज्यीय तत्वों के विकास के साथ ही उसका विशेष जुड़ी थी जिसे विकसित सामन्तीय निर्भरता ने पनपने नहीं दिया । भारत में

---

1. डा० सादोदरन । भारतीय चिन्तन परम्परा । पृ० 536
2. डा० सादोदरन । वही । पृ० 539

मध्य - वर्ग का उदय । विकास एवं गठन भिन्न प्रकार से हुआ । उपनिवेश एवं अन्य देशों की तरह नहीं जहां व्यापारी वर्ग ही एक निश्चित सामाजिक स्तर से पहले मध्य - वर्ग का गठन कर सका । लेकिन अंग्रेजों के आने पर । भारत में । स्थिति ही बदल गयी । ° भारत में अंग्रेजों के उदय के साथ ही अनेक परिवर्तनों का जन्म हुआ । किसी भी यथेष्ट आर्थिक एवं राजनीतिक प्रणाली के अभाव में उन्होंने अपनी तरह के राजनीतिक संगठन एवं आर्थिक संस्थानों के ढांचे एवं सिद्धान्तों को क्षेत्रीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर लागू (प्रत्यारोपित) किया । ° ' इसका परिणाम हुआ कि आर्थिक, व्यापारिक एवं सामाजिक ढांचों एवं शक्तियों का उदय जिन्होंने । मुख्य रूप से अंग्रेजों के सहायक होने की भूमिका निभायी अंग्रेजी विचार एवं संस्कृति के विकास गति धीमी थी फिर भारत मध्यवर्गीय समाज की दिशा में अग्रसर हुआ जिसमें मध्यवर्ग में उसके विशिष्ट गठन एवं चरित्र के आधार पर एक निश्चित भूमिका निभायी । फिर भी, आश्चर्यजनक तो यह है कि आर्थिक संगठन के सम्बन्ध । यह वर्ग भी, भारतीय समाज के ऐतिहासिक आवश्यकताओं के मध्य से विकसित नहीं हुआ । इसे आर्थिक हितों की रक्षा करने तथा सहायता देने एवं नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए पैदा किया गया था । इस वर्ग ने काफी सीमा तक अंग्रेजों की आवश्यकताओं एवं पूर्वापेक्षाओं को पूर्ण कर दिया । जैसा कि इस वर्ग की प्रकृति के अनुरूप भी था । पी० सी० मित्रा ने इस मध्यवर्ग के जन्म एवं भूमिका के बारे में प्रकाश डालते हुए लिखा है कि - ° भारत में ये (मध्य वर्ग) आर्थिक विकास से विकसित परिस्थितियों के संचालन के लिए लागू किए गए विधि - विधानों तथा प्रशासन की मांगों के आधार पर अस्तित्व में आए । उतने सीधे - सीधे रूप में आर्थिक प्रगति के आधार पर नहीं । भारत की परम्परागत सामाजिक विचार और ब्रिटेन के प्रशासन तथा साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के मुक्त - चिन्तन ने पूंजीवादी वर्ग को भारतीय

---

1. पी ० सी० मित्रा । द पन्जाब मिडिल क्लासेज । पंजाब यूनिवर्सिटी

मध्य वर्ग की मुख्य कड़ी तथा संतु प्रदाया। [1] जिसने उन्हीं सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के आधार पर विकसित किया है मध्यम से हेतु की विधि, साम्राज्य विरोधी तथा सक्रिय, गतिविधियों में अपनी सही भूमिका अदा की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्यवादियों ने औपनिवेशिक - कार्यनीतियों को लागू करके, पुरानी भारतीय संरचना को तितर - बितर कर दिया तथा उस से उत्पन्न आवश्यकताओं के अनुरूप ही न केवल नई नीतियों को लागू किया बल्कि एकीकरण/ एकीकरण की गति तेज करने के लिए एक - दूसरे की पूरक दोहरी प्रकृति की कार्यवाहियाँ सम्पन्न की। वस्तुत यह उन्हें ज्ञान - भाल के दौरान से सहयोगकर था न कि भारत की प्रगति की दिशा एवं प्रकृति से इसलिए हमें साम्राज्यवादियों की नीतियों के आधार पर ही आर्थिक - आधारों के प्रतिमानन एवं उत्पाद को विश्लेषित करके समझना चाहिए। इसके साथ यह भी कि किस प्रकार 'आधुनिकता' की उनकी अपने वाली सुरोपीयन धारणा से अंतर एकीकरण किया तथा किसानों, मजदूरों एवं श्रमिकों को वश में करने एवं नियंत्रण में रखने के लिए सामन्तवादी तत्वों से गठजोड़ किया तथा अपनी स्वयं की पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया को प्रारंभ करने के लिए उपनिवेशवादी रास्ता अपनाया। [2]

सामाजिक परिवर्तन -

जैसा कि देखा जाता है, साम्राज्यवादियों ने उससे अधिक 'आधुनिकता' की आशा भी नहीं की जा सकती। क्योंकि उपनिवेशवादी सम्बन्ध वस्तुत: दोहरे प्रथमत: आर्थिक शुरू करते हैं। मुख्य दोहरा है आर्थिक एकीकरण तथा द्वितीय उसको कार्यान्वित करने के लिए उठाए गए कदम तथा प्रतिक्रियायें। लेकिन इसी ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के गर्भ में विकसित अंतर्विरोध अन्त में उस एकीकरण के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं यद्यपि उपनिवेशवाद - शक्तियों की कोशिश यही रहती है किसी भी कीमत पर एक प्रकार की एकता

1. पी० बी० सिंघा, द इण्डियन सिविल सर्विस, फ्रेडरिक प्रिंटिस
2. पत्तनायक, द इण्डियन इकोनॉमी एण्ड दि बिगिनिंग आफ प्लेन इकोनॉमी, 1850 - 1850 पृ० 124

को उनाए रखा जाय । संक्रमणकाल के दौरान ऐसी ही प्रक्रिया चली जिसमें सभी तरफ इस प्रकार के नहीं थे कि अन्त में पूंजीवादी उत्पादन पर आधारित सामाजिक प्रणाली में रूपान्तरित हो जाते । लेकिन इस दौरान उत्पन्न पूंजीवादी तरफ उपनिवेशवाद की छाया तले उगे व पनपे जिसमें सामन्तीय व्यवस्था के विभिन्न जड़ताग्रस्त चिन्हों एवं चिह्नों को उनाए रखा क्योंकि निहित रूप से पूर्व - पूंजीवादी व्यवस्था में स्तम्भ हो चुके थे । जिसमें उनका ० ‖ पुनर्संयोजक ‖ पूंजीवाद के उदय व विकास में उतनी पीड़ित नहीं पुर्व जितनी कि उसकी अपूर्णता और अपरिपक्वता से । ० यह उपनिवेशवाद का विरोधाभास ० परस्परगत ० प्रभाव था जिसने पूरी निर्दयता के साथ एक सभ्य समाज पर प्रहार करके उसकी हत्या कर दी । ० कहना न होगा कि इस स्थिति में जबकि उत्पादन के तरीकों में पूर्ण रूपेण और परिवर्तन नहीं हुआ । तब किसी भी बुनियादी व नए सामाजिक बदलाव की आशा नहीं की जा सकती । नई व्यवस्था को आर्थिक रूप उतनी मजबूत न बनने दी गई कि पुरानी व्यवस्था के प्रगतिवाद विरोधी तत्वों को ध्वस्त कर सके । जैसा कि हम पढ़ चुके है यह उपनिवेशवादी प्रणाली की विशिष्ट प्रक्रिया थी जिसने न केवल स्वतः-ऐतिहासिक विकास को ध्वस्त किया वरन् प्रत्यारोपित पूंजीवादी तरफों के विकास को एक लम्बे काल के लिए रोक दिया ।

संक्रमण - काल के दौरान जिन रूपान्तरणकारी प्रवृत्तियों के संकेतकों की आधार शिला पड़ी वह निर्धारित एवं निर्विरोध स्तम्भों पर आधारित नहीं थी । यह पुराने पेड़ में नए उन्नत किस्म के पेड़ की कलम डालने के समान था । भारतीय आर्थिक व राजनीतिक ढाचों के दीवारों को सामन्तीय समाज के धरातल पर बिछेर कर दिया गया जिसकी परिणति उपनिवेशवादी सम्बन्धों और व्यवस्थतः उपनिवेशवादी सांस्कृतिक व सांस्कृतिक सम्बन्धों में पूर्ण तथा वे भी पूर्णतः रूढ़ नहीं थे । शुरू से ही स्थिति कुछ इस तरह की रही है कि सामन्तवाद की ऐतिहासिक शक्तियों ने एक मिश्रित स्थिति पर आकर प्रगतिवादी प्रवृत्तियों का सक्रिय विरोध किया है । वास्तव में यह एक विशेषज्ञ संक्रान्तिक संरचना थी ।

- - - - - - - - - -

नाइजेशन

1. एजफान पैनिक ० कोलोनेलिज्म आफ द इन्डियन इकोनमि ०एस० एस०पृ०-32

संस्कार ० जिसमें विचारधारा ० संस्कृति ० जीवन के ढंग आदि सभी का पूर्ण व्याख्यान होता है आधुनिक भारतीय इतिहास में कभी सोचा नहीं गया। यों उसके आधुनिकीकरण की प्रक्रिया इसे स्वयं कहा जा सकता है जिसमें ° लोग न केवल ° जीवित ° से वरन् उससे अधिक ° मृत ° से दुःखी व पीड़ित हुए हैं। ° [1] प्रक्रिया इतनी अधिक लम्बी व कष्टदायक रही कि उसने भारत का व्यवस्थात्मक एवं प्रगतिवादी परिवर्तन सेजी से नहीं होने दिया। शासन तंत्र स्वयं में ० नए जन्म के संस्कार के प्रति उभरी व लाभ पहुँचे वाली समस्याओं का प्रत्योत्तर था क्योंकि उसे थोपा गया था वह स्वयं में भारतीय समाज का उत्पाद नहीं था। संस्कार काल इतिहास में बहुधा उजाले का समय होता है जिसमें ° एक दरवाजे से दूसरी में प्रवेश के दौरान भीषण विप्लव ० संघर्ष ० मुकाबले तथा क्रान्तिकारी युद्ध होते हैं जैसा कि यूरोप में घटित हुआ। इसी ओर भारत का विकास एक तरफ से ° निर्बाधित ° था जिसमें आर्थिक व्यवस्था का व्यावसायिक बहुत ही धीमा ० कमजोर और कष्टदायक अवस्थाओं से भरा हुआ था। ° [2] यही कारण है कि नई परिस्थितियों सेजी से विचारों का ढंग न बन सकी'। बहुसंख्यकों का अतीत पर अधिकतम ध्यान केन्द्रित करने वाली कितना ० रूढ़िवादियों और परम्परा की सड़ी गली बन्धी लाइनों का अन्त बहुत बाद तक नहीं हो पाया सिर्फ इसलिए कि राष्ट्रीयता की कार्यविधियां अभी अपरिपक्व और सीमित थीं। यह वह काल था जब नई चेतनात्मक परिस्थितियों का विकास बहुत धीमा था तथा इसकी ओर पुराना ° भी बहुत ही धीमी गति से उन परिस्थितियों से जुड़ता हुआ ० मार्ग से हटकर अतीत की वस्तु बन रहा था। यह प्रक्रिया आज भी पूर्ण नहीं हुई है। ° फ्लारटर के नीचे या तो परिवर्तन छोड़ी ही नहीं गई है या फिर कुछ जोड़ी भी गई है तो उस ढंग से कि उन्हें सामंजस्य और सही जगह पर रख लाने व जोड़ने के लिए एक बड़े ° दार्शनिक ° की आवश्यकता है। ° [3] क्योंकि काम और अयोग्य सामाजिक सर्जरी के रास्ते विकास की पूर्ण

---

1. वरुण डे पृ० Perspectives on Social Analysis, पृ० 180
2. एण्ड्रयू फ्रीब ० सोशियल सोर्सेज ० संख्या 32
3. डी० पी० एस०, मार्क्स इण्डियन कल्चर ० पृ० 62

संभ्रान्तवादी की कोई गुलामगिरी शेष नहीं बची । विचारों तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों भी उसी प्रवृत्ति के अनुकूल रहा है यानी पतनशील सामन्तवादी तत्वों में खिले हुए पूंजीवादी मूल्यों द्वारा तैयार किए भौतिक आधारों का सामाजिक - सांस्कृतिक प्रतिमान - किसे न तो पूर्ण पूंजीवादी संज्ञा दी जा सकती है और न ही सामन्तवादी । वस्तुतया नए विचारों के नए रूप वाली व्यवस्था अपनी वास्तविक उर्जाओं एवं क्षमताओं को प्राप्त कर रही ।

नए व पुराने के मध्य संघर्ष -

संस्कृति के मूलाधारों में एक है , नए और पुराने के बीच परस्पर संघर्ष का ही नतीजा था कि भारतीय प्रतिमान को एक विशिष्ट किस्म के सांस्कृतिक जागरण का सामना करना पड़ा । पुराने मूल्यों तथा मान्यताओं में नए मूल्यों , मान्यताओं तथा रीतियों को स्थान नहीं दिया । ° ऐसी परिस्थितियों में , स्वभावत: ही , धार्मिक और राजनीतिक संघर्षों ने धार्मिक आवरण अपनाया । प्रतिक्रियावादी वर्ग अपने निहित स्वार्थों के संरक्षण और सामाजिक व्यवस्थाओं की व्याख्या करने के लिए ही वेदों और शास्त्रों से उद्धरण नहीं देते थे , अपितु ऐसा वे विटिश सरकार के समर्थन के लिए भी करते थे । दूसरी ओर प्रगतिशीलवर्ग और समूह धर्मों धार्मिक ग्रन्थों से उद्धरण देकर सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों की व्याख्या करते थे ।° [1] अतीत एवं परिवर्तन के तत्वों में निहित द्वंद पर आधारित संघर्षरहित थे । एक अतीत से जुड़ी आती संस्कृति की उन परम्पराओं को ° रूढ़िवाद ° घोषित कर रहा था तो दूसरा वर्ग ही ° ताजगी° पर बल । विटिश नीतियों ने आधार पर पड़ी आर्थिक व सामाजिक संरचनाओं में अभिवार्य: कुछ ऐसे तत्व थे,°कुछ ऐसे अंतर्विरोध थे जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता । आजादी के 33 वर्ष बाद भी भुलाए नहीं जा सकते हैं । भारतीय राजनीतिज्ञ अब भी धार्मिक सर्वेक्षणों पर उतना ही विश्वास रखते हैं जितना कि आज से 100 वर्ष या उससे पहले रखते थे । सैद्धान्तिक आधे एवं सामाजिक संरचनाओं में ° पुराने ° की स्थिति एक सीमा तक अभी बनी हुई है ।

1. देo दामोदरन , भारतीय चिन्तन परम्परा , पृo 380

संक्रमण काल का भारतीय दो भिन्न स्थितियों में सांस लेता था। सामन्तीय दबावों के मध्य रहते हुए उसे नई शिक्षा के नए विचारों का सामना करना पड़ता था। इस स्थिति में उसकी चेतना का विकास दुहरा चरित्र लिए था। ऐसा होना अनिवार्य भी था उस स्थिति में जो नए का पूर्ण जन्म नहीं हुआ था मिट अतीत लड़ा गला था। किसी भी विकल्प की आवश्यकता नहीं थी थी। अतः अतीत की चीजों को नए दृष्टिकोण से देखने तथा व्याख्या करने की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया गया। तथा चेतना के उत्थान के लिए सामाजिक परिस्थितियों के मूल्यांकन एवं पुनर्मूल्यांकन पर बल दिया गया। राजा राम मोहन राय इसी सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। 1826 ई० में उन्होंने लिखा कि - " मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि हिन्दू - धर्म की जिस वर्तमान प्रणाली पर हम लोग चल रहे हैं वह हमारे राजनीतिक हितों की पहचान कैसे जाती नहीं है। जात - पात के भेदभावों ने , जिन्होंने जनता को छोटे - छोटे वर्गों में बांट रखा है, हमें राजनीतिक भावों से शून्य कर दिया है। अनगिनत धार्मिक कर्मकांडों और पवित्रता सम्बन्धी नियमों ने हमें किसी भी कठिन कार्य को उठाने के लिए अयोग्य बना दिया है। मेरा विचार है कि इस हिन्दू - धर्म में कुछ न कुछ परिवर्तन होने ही चाहिए , कम से कम इसलिए कि हमारे राजनीतिक हितों से मेल हो और जनता को सामाजिक सुख मिल सके। " यह वक्तव्य आज भी उतना ही सार्थक है। वह दृष्टिकोण आज भी प्रासंगिक है। उस समय प्रत्येक राजनीतिक - धार्मिक क्रिया - कलाप के पीछे धार्मिक सत्ता की प्रेरणायें सन्निहित थीं।

सामाजिक संगठन व विचार -

संक्रमण में नए आदमी की नींव पड़ी। आम ‖ औरत ‖ भारतीय के दृष्टिकोण का दायरा अपना विकास एवं प्रसार कर रहा था। लेकिन धीरे - धीरे समाप्त हुआ। विभिन्न राजनैतिक आर्थिकताओं तथा सर्वो आर्थिक प्रश्नों के माध्यम से जातियां एक दूसरे के नजदीक आ रही थी। उन्हें अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व का आभास हो रहा था। विभिन्न संप्रदायों और

समाजों जैसे ० ब्रह्म समाज ० प्रार्थ कृष्ण मिशन ० आर्य समाज आदि की उत्पत्ति की नींव यहीं संस्कृत काल के दौरान पड़ी । लेकिन उनकी पहुँच केवल शिक्षितवर्गीय ० भद्रों ० के अब तक ही पहुँच कर रह गई । वे न तो पूर्ण अंश थे और न ही राष्ट्रीयीकरण । ० उनमें बहुत से जाति पांत से विरुद्ध उठ गए लेकिन सम्प्रदाय अथवा उसके मौलिक आधारों के विरुद्ध नहीं । 19 वीं सदी के ये सम्प्रदाय मिशनरी भावनाओं में पीछे न थे । उनके पास प्रचार के साधन भी कम नहीं थे । वे लोगों तक पहुँचना चाहते थे ताकि मानवता और प्रगति के लिए ० उनके आदर्शों से उबार सकें । ०[1] लेकिन प्रजा के स्वस्थ की ओर निहित आवश्यकता उनके पास न थी । कुछ बुद्धिजीवियों द्वारा हिंदूधर्म की व्याख्या किए जाने तथा व्यावसायिक वर्गों के प्रति सम्पर्क के प्रयोग होने की स्थिति में प्रति - सुधारवाद ॥ ॥

ये सीख और पंथ जिससे हर प्रकार की आवश्यकताओं का पूर्ण: पूरा किया गया । ० उस समय के दौरान विभिन्न धर्म एवं रीतिरिवाजों के प्रति पक्षे दावे किए गए जिनका कुछ लोग भी न कर पाए थे । ०[2] आर्थिक विकासवाद को आवश्यक बल प्रदान किया गया । यह मौलिक आधारों और प्रकारान्तर से संस्कृतिक उन्नति के कारण था । अंग्रेजों की नीति उससे साफ थी० उन्होंने हटधर्मता का रुख अपनाया । उन्हें भारतीय जन की आवश्यकता थी संस्कृति की नहीं ।

० विचारों की गतिविधियाँ ० जिन्हें सिद्धान्त रूप में ० ऊपर से नीचे की ओर दिखाए थे आश्चर्य नहीं । उनका दायरा एक अत्यन्त छोटे से दायरे तक सीमित था जिसमें गोलमेज में ही इजाफा उन्हीं मिश्रित हुआ था । इस का परिणाम यह हुआ कि समाज की कुल आवश्यकता कमजोर पड़ गयी । समझौतावादी परन्तु भावनाओं से सुधारवादी रुख अपनाया ।०[3]

---

1. एन० एन० घोष, एजुकेशन अवेकनिंग एण्ड ओपनियन० पृ० 166
2. जी० पी० मुखर्जी ० मार्डन इण्डियन कल्चर० पृ० 27
3. पी० सिवेश्वर प्रसाद ० एजुकेशन इन इण्डिया ० पृ० 329 आइडियाज़

इसलिए ० यूरोपी साम्राज्यवाद से लड़ने का न तो कोई संगठित प्रयास ही हुआ और न ही बहुसंख्यक जनता को गर्व से भिड़ाने का।

वैसे भारत में ० जागरण 19 वीं सदी के बुद्धिजीवी वर्ग के बुद्धिवादी संस्कार का द्योतक था तथा उन अंतर्विरोधी तत्वों का चित्रण भी जिन्होंने भारतीय जनता को पिछड़ा और अंधकारग्रस्त बनाने के साथ - साथ उसे भविष्योन्मुखी दृष्टि भी प्रदान की। [1] लेकिन इसकी कीमत कुछ अधिक चुकानी पड़ी सिर्फ इसलिए कि ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य एवं निर्धारित प्रक्रिया को जन्म देकर नेतृत्वगत किया गया। सांस्कृतिक - सामाजिक स्तरों पर इसकी गुंज० परिणिति एवं प्रतिफलन एक अजीब विलक्षणता लिए हुए थे। ० यूरोप के पश्चिमी एवं अन्य भागों में जागरण के बाद आधुनिक ‖ का आगमन हुआ था लेकिन भारत में ० गोल एवं औपनिवेशिक आधुनिक का उद्भव इस तरह हुआ जैसे कि निर्बाध विटिश पुष्टि के लिए मैं से मिस्टर की उत्पत्ति। [2]

इसमें कोई शक नहीं कि पश्चिमी शिक्षा ने भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया० अतः कुछ सीमा तक यह ० सेक्युलर भी ० थी लेकिन ० ० नया बुद्धिजीवी वर्ग० अभाव० मानसिक रूप से अस्मिता की आवश्यकता के लिए छटपटाता रहा। प्रथम चरण ‖ संस्कार काल ‖ में पश्चिम के साथ तादात्म्य किया गया। पश्चिमी अनुभव से यह महसूस करना कि भैया पश्चिमी बुद्धिजीवी वर्ग किस प्रकार का होगा तथा उसका वास्तविक स्वरूप क्या होना चाहिए। इस तरह बुद्धिजीवी वर्ग के विकास के बाद वाले दौर में राष्ट्रीय अस्मिता का बोध हुआ। [3]

19 वीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में सांस्कृतिक ० सामाजिक गतिविधियों तथा शैक्षणिक खोजों तथा अनुसंधानों पर बल दिया गया जबकि द्वितीय में स्वराज - सुधार० शिक्षा तथा अन्य कल्याणकारी गति - विधियों पर लेकिन सभी हुए व्यावहारिक रूप में। कुल का कुछ अंतर्विरोध था

---

1० एल० दे० [illegible] एन सोशल सर्वेन्ट० पृ० 210 - 211।

2० वही पृ० 211

3० एच० [illegible] प्रसाद० दार्जिलिंग एन हिस्ट्री ०पृ० 336

पुराने सामन्तवादी ढाँचे के अवशेषों तथा ° नए ° के बीच। पुरानी सामाजिक मान्यताओं तथा नए विचारों में एक दूसरे के सामानान्तर चलते हुए ° जटिल अन्तर्क्रिया चली है। भारतीय सामाजिक - आर्थिक विकास के भविष्य की आधार शिला रखी।

नए सामाजिक - आर्थिक सम्बन्धों तथा पूँजीवादी विकास की नीतियों से आवश्यक पैदा हुए नए संसार के साधनों तथा उद्योगों के गठन की अनुभूति में मुद्रणालय ने प्रतिष्ठित किया जिसने औपनिवेशिक तथा भविष्य के भारत में एक भूमिका निभायी। उसने केवल पुरानी और अपार की साक्षी नहीं बल्कि जाने के नए व विशिष्ट आधारों का सूत्रपात हुआ। ब्रिटिश शिक्षा एवं पश्चिमी शिक्षा में निकले अनेकों नए - विचारों के उदय को अपरिहार्य बना दिया। ° विज्ञान और प्रौद्योगिकी आदि तथा उदार राजनीतिक ढाँचे पर जोर देने वाली पश्चिमी शिक्षा ने भारत में नए प्रकार की विचार - धारा के विकास को सुगम बनाया। इन विचारधारा के रूप थे : युक्तियुक्तता ; उदारतावाद ; स्वतंत्रता और समता ; मानवतावाद तथा समानता के विचार।[1] इसी के साथ ही ; औपनिवेशिक भारतीय समाज में ; सांस्कृतिक ; सामाजिक ; आर्थिक ; सामाजिक आदि सभी मार्गों पर ; विचारों में संघर्ष ; टकराहट ; संघर्ष तथा विकास की गतिशील अनुभूति हुई जिसने अभिव्यक्ति के रूप पर नए रूपों एवं विचारों को जन्म दिया। आधुनिक भावनाओं की नींव पड़ी। नई संस्कृति के अन्तर्गत हुई। लैखिक विकास तथा गति - प्रगति की यह प्रक्रिया ; जितनी कष्टप्रद भारतीय व्यवस्था के विकास में रही उतनी सहायक के रूप में नहीं। यह आर्थिक व सामाजिक उपनिवेशवाद के पूरे चित्र का चित्रण था जिसने भारतीय समाज आज भी उबर नहीं पाया है। पर भी सच है नए - विचारों के आगमी संघर्षों ने जन्मी आग ने ही साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय तथा देशभक्ति पूर्ण भावनाओं को जन्म दिया जिसकी नींव कुछ बाद में ही पड़ चुकी थी तथा 1857 का युद्ध जिसका प्रथम लैखिक संगठित राष्ट्रीय - स्वतंत्रता प्रयास था।

---

1. देo दामोदरन ; भारतीय चिन्तन परम्परा ; पृo 339

द्वितीय अध्याय -

ऐतिहासिक से आधुनिकाल में संस्कार और उसकी अंतर्वस्तु का विचारधारात्मक स्वरूप -

आधुनिक भारत में धार्मिक एवं जातिगत संगठन के विरुद्ध अनेक धार्मिक व गैरधार्मिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। इन धार्मिक संप्रदायों का आधार एक भिन्न धर्म था जोकि एक सीमा तक शास्त्रीयता वर्गों और अवतारों में पड़े थे। धार्मिक और जातिगत संगठन के विरुद्ध अस्तित्व में आए इन ° धार्मिक ° सम्प्रदायों को कुछ समान दार्शनिक एवं सामाजिक ° व्यवहारों के आधार पर निर्गुण मत की संज्ञा दी गई। इस मत के अधिकांश अनुयायी उस निम्न जाति के कारीगरों का हिस्सा थे जोकि छोटे - बड़े नगरों एवं उनके आस - पास के इलाकों में रहते थे। दार्शनिक स्तर पर निर्गुण - मता - वलंबियों ने निर्गुणवाद के अधिक ईश्वर के निर्गुण रूप पर अधिक बल दिया। यह एक बड़ी सीमा तक सामाजिक समानता के विचार की व्यावहारिक अभिव्यक्ति थी। उनके अन्तर्गत , उन्होंने प्रतिपादित मतों में ऊंच नीच की चेतना तथा जातिवाद के विरुद्ध उभरी भावनाओं को स्थान दिया। निर्गुणियों के दार्शनिक एवं सामाजिक सिद्धान्त जहां एक ओर तत्कालीन व्यावहारिक सम - स्याओं पर आधारित थे वहीं दूसरी ओर उन्हीं सिद्धान्तों और दृष्टि को मूल में रखकर लिखी गई विभिन्नताओं ने प्रतिपादित मतों को परस्पर एकता के सूत्र में पिरोया। बंगला , मराठी, पंजाबी, ब्रजभाषी ° आदि बोलियां व भाषाएं इस तरह की रचनाओं से भरी पड़ी हैं।

मध्यकालीन साहित्यिक गतिविधियाँ -

मध्यकालीन भारत में ० साहित्यिक क्षेत्रों में निर्गुण० काव्य तथा सगुण काव्य में भिन्न भक्तिकाव्य की नींव डाली। इसमें दो राय नहीं हो सकती कि दोनों आन्दोलन प्रायः मानवतावादी दृष्टि को लेकर ही आगे बढ़े। इसका एक कारण यह भी था कि समाज के अधिकांश स्तरों में पले सामाजिक आन्दोलनों ने ० प्रारंभिक स्तर पर लोक प्रचलित व लोकगत भावनाओं को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति की वस्तु बनाया। विचारों के संघर्षों ने व्यापक सामाजिक स्तर पर ऊंच - नीच व जातियों की रक्षा व प्रतिरक्षा और आग्रहण व प्रत्याग्रहण के लिए विवश कर दिया। इसलिए उस समाज की विस्तृत आत्मा का रूप एवं भक्तिकाव्य में देखने को मिलता है। अपने बाह्य रूप में यह सम्पूर्ण आन्दोलन भले ही धार्मिक प्रतीकों ० एवं - कथा आदि को लेकर चला हो लेकिन जहाँ तक उसकी अन्तर्वस्तु का सम्बन्ध है वह उस काल के समाज की परतों में चली आती विभिन्न टकराहटों व संघर्ष से परिपूर्ण है।

निर्गुणियों तथा उनके समकक्ष सूफी - साधकों का आम जनता से सीधे - सीधे सम्पर्क का ही परिणाम था कि भक्ति - काव्य की रचनाओं में ताजगी से पूर्ण लोकगत ० सामाजिक व व्यावहारिक मानवीय आचरणों पर आधारित भावनाओं को लेकर नई कविताओं ने एक नवीन प्रेम काव्यधारा की नींव डाली। यह मान न होगा कि यह काव्य - धारा पूर्ववर्ती व परवर्ती सभी सांस्कृतिक - साहित्यिक आन्दोलनों से कहीं अधिक विस्तृत ० घनीभूत० मानवीय व व्यापक चेतना पर आधारित थी।

इस काल में विन्ध्य भूखण्ड तौर - तरीकों ० दृष्टियों तथा सांस्कृतिक - साहित्यिक गतिविधियों के सहज घुलन - मिलन ने केवल विचारधारा के स्तर पर ही नहीं बल्कि जीवन के सौन्दर्यबोधी स्तरों पर एक नई संस्कृति की प्रतिष्ठा की। इस मामले में ० सामन्तीय शासक वर्ग के शोषण के केन्द्रों से हट कर निर्गुण - सूफी सन्तकवियों ने एक सशक्त भूमिका का निर्वाह किया। ये वास्तविक मानव के केन्द्र में रहे ० उसे पहचाना ०

संकेत किया और उत्पीड़न के जाल से मुक्त होने में उसकी अत्यंत सहायता की ।

° भक्ति काल ° में निर्गुण - सूफी मत के सिद्धान्तों पर आधारित होकर उसने उस काल के साहित्य में एक अत्यंत मानवतावादी प्रवृत्ति का विकास किया जिसने समस्त भारतीय जनमानस को साहित्यिक - सांस्कृतिक - राजनीतिक स्तरों पर प्रभावित किया । इसी का परिणाम था कि जाति - आधारित ऊँच नीच, जातिवाद, धार्मिक कट्टरता और उत्पीड़न की नींव चरमराकर ढह गई । निर्गुण - सूफी मत काव्य ने सिद्धान्त अनेक वर्षों तक असहायता के प्रति मौलिक - संघर्ष प्रदान करने का कार्य करते रहे । निम्न जातियों, कारीगरों आदि कमजोर जाति एवं वर्गों के निर्गुण धर्म एवं दर्शन में सामन्तीय - जातिवादी दमन व उत्पीड़न के विरुद्ध जिस धार्मिक - सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन का नेतृत्व एवं विकास किया वह सुदृढ आर्थिक आधारों के अभाव के बावजूद भी समाज की अधिकांश आत्माओं और अंगों तक पहुंचा । उसने आकाश पर और धरती पर जातिवाद व उत्पीड़क वर्गों की रक्षा के लिए चिन्ता कर दिया । साहित्यिक स्तर पर जातिवाद आदि की रक्षात्मक गति विधियों का संचालन करने वालों में तुलसीदास ने अधिक सक्रिय भूमिका निभायी । तुलसी के अतिरिक्त एक निश्चित समय धारा विरुद्ध दृष्टिकोण को लेकर चले सूरदास ने भी सामन्ती व जातिवाद उत्पीड़न के आधारों की रक्षा योजनाएं बनायीं ।

निर्गुण आन्दोलन में एक विशिष्ट सैद्धान्तिक तथ्य यह भी था कि उसमें विरोध की मात्रा अधिक प्रबल थी लेकिन उसके अनुपात में आर्थिक - सामाजिक आधार - शक्तियों की कमी । इसमें संदेह नहीं कि थोड़े कमजोर आर्थिक आधारों के बावजूद भी ° रीति - आन्दोलनों ° उस पर हावी हो गया । फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि भारतीय समाज, साहित्य एवं संस्कृति के प्रत्येक स्तर पर वे सबसे अधिक सक्रिय रहे । जहां तक निर्गुण सूफियों की कविता में मानवीय मूल्यों के चित्रण व उनका पुरजोर समर्थन करने का सवाल है, निर्गुणियतवादी, सगुणियों से गुणात्मक स्तर पर काफी आगे थे क्योंकि उनका मानवतावाद अधिक व्यावहारिक, व्यापक, सक्रिय और समानता के सिद्धान्तों और आपसी सहयोग पर आधारित था ।

निर्गुणवादी विचारधारा और दार्शनिक के प्रमुख प्रतिनिधि कबीर दास । मानव। वैदिक आदि में व्याप्त कालीन समाज की नब्ज को पर पकड़कर उन्होंने सम्पूर्ण आडम्बरों - अंधविश्वासों पर तीव्रतापूर्ण ढंग से चोटकिया। उनकी विचारधारा के मानव एकेश्वरवाद की वास्तविक अंतर्वस्तु उस काल की पीड़ित जनता की आवाज है । नीचे अंतर्विरोधों की धारणा के मध्य धर्म व व्यावहारिकता पर आधारित जीवन को देखकर उन्होंने अनुभव किया कि शासक जनता को उसकी वास्तविक स्थिति से प्रति सचेत किए और उनके उद्देश्य फलीभूत नहीं हो सकते । इसको परिलक्षित करने के लिए उन्होंने जनता को सचेत करने ° सोद्देश्यवाद° करना आरम्भ किया । यही कारण है कि अधिक संत - महात्मा सुधी वृत्ति छोड़ने में अधिक समय व्यतीत किया करते थे । जनता को सचेत करने के उद्देश्य के अंतर्गत - उन्होंने उपलब्ध अधिकांश धार्मिक प्रतीकों आदि की नवीन व्याख्या की । उन्होंने सिद्धान्त और व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र स्तर पर अधिक व्यापक व व्यावहारिक नीतियों का अनुसरण किया ।

इसमें संदेह नहीं कि पीड़ित मानव की आध्यात्मिक , सामाजिक , राजनैतिक आदि मुक्ति के लिए चलाए गए अधिकांश आन्दोलन एकदम आर्थिक-केन्द्रों के आस - पास तक सीमित रहे । इसलिए उन आन्दोलनों की गर्मी बहुस्तरीय भारतीय समाज की प्रत्येक परत को भेदकर ग्रामीण समाज के हृदय तक न पहुंच सकी । कारण न होगा कि साम्यवाद , पूंजीवाद , समाजवाद, साम्यवाद व उनके अन्य सामाजिक सह्योगियों के विरुद्ध छेड़े एक झंझावाती आन्दोलन में निर्गुण - विचारधारा के एक अंग के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । यह ऐतिहासिक विडम्बना ही थी कि उस काल के शासक - वर्ग को मालूम ही नहीं था कि विद्यमान परिवेश - व्यवस्था का विरोध किस तरह किया जाय । उस असमंजसता में उसे ठौर की ओर भेज दिया । जहां वह जनता की सेवा में रहने दिया गया । ° विद्यमान परिवेश को स्वीकार कर लिया । उसने साधारण आराधकों को भी निर्देशित कर दी । निर्देश दिया कि या तो स्वयं को राम चरणों की अर्चना के लिए समर्पित किया जाय अथवा फिर तत्कालीन दुनियां की बुराइयों को मन से भुला दिया जाय । वास्तव में , रहस्यवाद की व्याख्यायें गलत ढंग से की जाती रही है । यह

गंडे - ताबीज और औषधि चिकित्सा पर आधारित चिंतनावाद न केवल सामाजिक व्यवस्था के प्रति एक विरोध का स्वर था बल्कि एकांकी व एकांगित मध्य आवश्यक पूर्ण संबंध के रूप में था। [1]

भक्तिकालीन कवियों में मानव साथियों की मुक्ति तथा अन्य वर्गीय चिंतों की सिद्धि के लिए शक्ति एवं व्यक्तिवादिता को कभी आदर्श नहीं माने दिया। उन्होंने मानव - समाज को ऐसी ऊंची भावना से आप्लावित जीवन दिया। यही कारण है कि उनके काव्य और ° उपदेशों ° में मानव साथियों को भुलाए एवं सामान्यता के विचार की ध्वनि गूंजती रही। जिन्हें मानव की पहुंच के भीतर स्वीकार किया गया। सामाजिक अन्याय के प्रति झुकने का उसने उत्तम साधन कभी स्वीकार नहीं।

1650 ई० के बाद के साहित्य के अध्ययन के दौरान एक पाते हैं कि भक्तिकालवादी भक्ति काव्य परम्परा धीरे - धीरे कमजोर होती चली गई। दरबारी रीतिकाव्य ने उसे दबा दिया। इसका एक मात्र कारण सत्ता में विकेन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप सामन्तों द्वारा स्थिति पर पुनः अधिकार के कारण कारीगर स्त्रोतों का अभाव पड़ जाना था। इसी लिए साहित्य में जनतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना तथा अभिव्यक्ति को गहरी ठेस पहुंची। भक्तिकालवादी उच्च - मूल्यों को क्षत विक्षत होता दी जाने लगी। कुल - मिलाकर साहित्य व जनता के रिश्तों के मध्य के सम्बन्ध तार - तार हो गए। संक्रमणकाल व उसकी पूर्वसंध्या तक ० साहित्य में सामंतीय - मूल्यों ० क्षीण ० घिसा और एकांकार की भावना के स्थान पर ° निजता एकांगवाद° और स्वगत व्यक्तिवाद का बोल बाला रहा। अब उसमें बौद्धिक व भावगत जटिलता का प्राधान्य व्यापित हुआ तथा साथ ही अन्य विरूपगत जटिलताओं का भी। इस दौर के रीतिकाल एकांगित काव्य में भावार्थ एवं विभिन्न साहित्यिक सिद्धान्तों के प्रयोगों के बावजूद वे उत्तर जीवन की सक्रिय जीव - न्तता ० जैव व्यता और सहजता नहीं थी जिसको भक्तिकाल लेकर आगे बढ़ा था।

- - - - - - - - -

1. सरदार जाफरी ० कबीर - वाणी ० की भूमिका से

कहना न होगा कि - ° रीतिकाव्य ° जिसे उस काल के संपूर्ण समाज की साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं माना जा सकता मात्र एक वर्ग - विशेष की मानसिक विकृतियों व स्थितियों का लेखा - जोखा है । यही कारण अधिकांश रीतिकाव्य में सार्वभौमिकता और सर्वोपयुक्तता की कमी है । उसमें उस समूचे युग के दोलन उपस्थित समाज के प्रत्येक स्तर और वर्ग की आकांक्षा न होकर पतन शील ऐसी सामन्तीय चेतना के विघटित रूपों की प्रतिक्रियाएं और प्रतिफल हैं । निःसंदेह ० साहित्यिक क्षेत्रों पर सामन्ती चेतना का प्रभुत्व स्थापित होने के कारण ही ० उसमें से उत्कृष्टता की लगभग गायब हो गई । इस स्तर पर आकर दरबारी - साहित्य का दृष्टिकोण नकारात्मक हो गया था जिसने समाज की वास्तविक स्थिति को नकारते हुए ० विलासपूर्ण रूप में दृश्य - वातावरण का निर्माण किया । उस तरह की वास्तविकता - विरोधी एकांगी - वर्ग सर्वथा गतिविधियां साहित्य में काफी अर्से तक कायम रहीं । लेकिन ° रीति ° से हटी तरह मुक्त रहकर क्या कुछ लिखा गया ० उसके बारे में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है ।

यह सत्यापित सत्य है कि दरबारी रीतिकाव्य में कविता की अन्तर्वस्तु को गौण मान लेने का दुष्परिणाम यह हुआ कि रूप व उसके बाह्य अंगों का प्राधान्य हो गया । अर्थात् उसमें साधन रूपवर अभिव्यक्ति के साध्य की प्रमुखता दी गई । वस्तु की कमी और वस्तुनिष्ठ वास्तविकता से बचने की यह सबसे उत्तम विधि साबित हुई । साहित्य के मूलभूत उद्देश्यों और विशेषताओं के मुख्य तत्वों को भुलाकर ० मनगढ़ंत व कृत्रिम भावों तथा हल्के उद्देश्यों को लेकर ही साहित्यिक कार्यवाहियों का संचालन होता रहा । शुक्ल जी के शब्दों में यही से उस काल में ° चमत्कार सीमित मनोवृत्तियों में होकर चलने लगी । ° सामन्तीय दृष्टि व दरबारों के प्रति साहित्यकारों के झुकाव ने ही ऐसे संकेत बनाया । उसने विलासता में डूबी मनोवृत्ति की दृष्टिसंकुचता के व्याप्त होकर रचित साहित्य में निम्नवर्गीय पेचीदगियों और समस्याओं के लिए स्थान ही नहीं बच रहा । दूसरे यह उस मनोवृत्ति और विचारधारा द्वारा संचालित दृष्टि एवं रचना - प्रक्रिया में भाव - विचार में

प्राकृतिक आवेग के साथ नहीं आते क्योंकि उस पूरी प्रक्रिया में सर्वाधिक आभिमत रूप व शिल्पगत संरचनाओं को मिलती है । उसमें भी दो राय नहीं हो सकती कि एक सफल की समस्त रचनागत पुनरावृत्ति को सिद्ध करने के लिए रूप व शिल्पगत उपकरणों की जितनी आवश्यकता हो जाती रही उतनी अन्य प्रक्रियाओं की नहीं । चूंकि रूप व शिल्प वस्तु अथवा वांछित संवेग को अधिक से अधिक उद्घाटित तथा संप्रेषित करने के साधन मात्र होते हैं अतः उनके ओर कार्यसिद्धि हो भी नहीं सकती । लेकिन प्राथमिक स्तर के आरम्भ का एक तथ्य यह भी है कि वस्तु की कीमत पर रूप व शिल्प की ओर नहीं बढ़ी नहीं जा सकती । ऐसी स्थिति में ० कवि अपने आशयों के साथ प्रयोग करता है कभी छन्द के साथ कभी प्रतीकों के साथ कभी केवल कुछ शब्दों के साथ ० कभी विराम चिह्नों के साथ और कभी एक ही कविता में इन सबके साथ । यह उस शिल्प में उतना तल्लीन हो जाता है कि विषय - वस्तु पीछे छूट जाती है और उसकी कारीगरी ही दिखाई पड़ती है । ०[1]

उसके साथ ही यह भी पाते हैं कि उस काल में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को साहित्यिक - सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्यिक उत्पादन हो एक तरफ उद्देश्यहीन ० पूर्वकाल की उपादेयता ० जीवित बोध और औचित्य को समझे बिना ० साहित्य में सौन्दर्य बोधी नियमों उपकरणों ० रूपवादी - शिल्पगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र में वर्णित नियमों और प्रतिमानों तथा कविसमयों को आधार बनाकर साहित्यिक रचनायें हुईं । मध्यकाल में स्थिति विपरीत थी । उस काल के साहित्यकार ने जीवन के हर पक्ष की गतिविधि व क्रम को महसूस किया इसलिए उन्होंने आम आदमी के हितों और हितों के अनुरूप साहित्य का निर्माण किया । यही कारण है कि उनकी रचनात्मक दृष्टि व अभिव्यक्ति आत्मतावाद अधिक स्पष्ट और खुली थी । ० तुलसी ने सर्वजन हित के लिए लिखा इसलिए उनके काव्य में गाम्भीर्य व्यापकता ० सहजता ० संवेदनशीलता तथा उत्कृष्टता आई० उसके विपरीत

---

1. डॉ० नगेन्द्र सिंह ० इतिहास और आलोचना ० पृ० 20 - 21

बिहारी के दरबार के विशिष्ट कवियों के लिए लिखा जाएगा उनमें दरबारी भोगविलासिता , छल - कपट , अलंकार आदि द्वारा पड़ा ।[1] उसके पूर्व भक्ति काल में राम भक्ति की रचनाएं , शृंगारिकाएं , वीर एवं दूती , भक्तीय व लौकिक रस , वीर और कृष्ण ऐसे नायकों के माध्यम से व्यक्त हुई थीं मगर रीतिकाल में से ही रस - वीर व कृष्ण सामन्तीय वातावरण की प्रतिक्रियाएँ और उसके सांस्कृतिक प्रतिमान के केन्द्रीय नायक बन गए । इस कारण में शिल्प - संस्कार ° प्रमुख तथा ° वस्तु - संस्कार ° गौण हुए । रीतिकालीन दरबारी साहित्य का अधिकांश , वास्तव - सामाजिक दायरों व दृष्टि से जुड़ा होने से कारण सम्पूर्ण - समाज की उसकी गति एवं प्रवृत्ति का यथार्थपरक व सौन्दर्यात्मक बोध कराने के स्थान पर केवल उच्चवर्गों की उपभोग की ° वस्तुएँ ° का ढंग बन कर रह गया । ऐतिहासिक विश्लेषण का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उस युग का सारा साहित्यकार सामाजिक और जीवन के व्यापक संदर्भों से कटने में भावुक नहीं था इसलिए ° दुख ° , निम्न° , ° दरिद्र° आदि जीवन के विविध रंगों की छवियां उसके काव्य में नहीं मिलती । उक्त परिवेश में कवि भावुकता से कोसों दूर होता है । वैसा नहीं कि रीति - काव्य में भावुकता है ही नहीं - वहां है मगर दाम्पत्य रति आदि की भावुकता । और ° जो केवल दाम्पत्य रति की में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या सीधे - सपाट ही चित्रित करें , वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते । पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति से अर्थवत्ता और सारतत्व का साक्षात्कार कर सकें और उसे पाठक के सम्मुख अपनी रचना - दक्षता द्वारा प्रत्यक्ष कर सके ।[2] °

कहना न होगा कि रीतिकालीन साहित्य तत्कालीन सामन्तवादी दरबारी वर्ग की ऐतिहासिक सीमा तथा नियति का पर्याय था । जो विस्तृत और व्यापक समाज और संस्कृति की प्रक्रियाओं से अलग वर्गीय दृष्टिकोण पर आधारित साहित्य रूढ़िवाद व सस्ती मनोरंजनवादी भावनाओं से रंग - रंग कर न केवल प्रश्रय/के ही पात्र थे बल्कि उसे संरक्षणात्मक समर्थन दे उनकी

---

1. डॉ० नगेन्द्र सिंह , परिचय और आलोचना , पृ० 158
2. वही , पृ० 15

° मेन्टेनेन्स ° व रक्षा में भी लीन था । लोक - जीवन और लोक संस्कृति से भिन्न अपनी एक विशिष्ट सामाजिक - सांस्कृतिक दृष्टि व अस्मिता की प्रतिष्ठापना व रक्षा करना उसका नैतिक , संवैधानिक , दृष्टिगत व आर्थिक , दायित्व बन गया । वैसे भी शासक वर्ग खुद को श्रेष्ठ और अभिजात्य रूप से एतिहासिक सिद्ध करने के लिए सांस्कृतिक - सांस्कृतिक स्तर पर भी अपने विशिष्ट मूल्यों की खोज , स्थापना और रक्षा करना जारी रखता है । भारत व्यापक सामाजिक - संरचना से बने होने के कारण ये मूल्य व्यवहारी दृष्टिकोण से जितने अधिक संपन्न व समृद्ध होते हैं । साथ ही अस्वीकृत और तिरस्कृत करने वाले भी उतने ही - संरचना के भीतर नहीं । इस वर्ग की सबसे बड़ी त्रासदी यही होती है कि यह अपने निजी सांस्कृतिक - सामाजिक - सांस्कृतिक मूल्यों की अपेक्षा से समाज के व्यापक प्रतिनिधिक मूल्यों की हैसियत से देखता है जबकि वास्तव में ऐतिहासिक वास्तविकता उसके उलट होती है । यह आर्थिक साधनों , उत्पादन प्रक्रियाओं एवं राज्यसत्ता पर नियंत्रण होने के कारण शासक वर्ग के बौद्धिक मूल्य व चेतना को कुछ समय के लिए सत्य पर लेपते जरूर दिखाई देते हैं ।

वस्तुतः , वस्तुतः ढंग से देखा जाय तो भक्ति काल के मानवतावादी सामाजिक सांस्कृतिक तत्वों ने न तो रीतिकालीन सांस्कृतिक आधारों के लिए मार्ग ही छोड़ा और न ही आत्म - समर्पण किया । निःसंदेह उन तत्वों ने अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ संघर्ष करते हुए सांस्कृतिक-सांस्कृतिक स्तर पर ° गौण ° मगर ° द्वितीय ° स्थान ग्रहण किया । इसमें आश्चर्य नहीं कि यह गतिशील एतिहासिक आन्दोलन , आर्थिक आधारों के अभाव में पड़ते ही , रीतिकाल में आकर पूर्ववर्ती रूप में संगठित न रह सका और अनेक छोटी - छोटी धाराओं में बिखर गया । तब उसके विरोध के तत्व को सहजता पूर्वक स्वीकार जा सकता था - जैसा कि हुआ भी । जातिवाद - सामंतीय दार्शनिक - निर्गुण - कृष्णभक्तिवादी एतिहासिक ने उसे संगठित न होने दिया । (क्या यह आज भी सच है ?) और उसके घटकों को अन्त तक बांटकर रखा । संक्रमणकाल में उन्हें मुक्ति की आकांक्षा बंधी थी लेकिन सब तक उनके स्वयं के मूल रूप और सामाजिक - आर्थिक क्षेत्रों में एक भिन्न प्रकार विशिष्ट प्रकार का गुणात्मक बदलाव आ चुका

था । कहना न होगा कि संक्रमण काल व उसकी पूर्व - संध्या तक भक्तिकाल के असंगठित व कमजोर तरत्वों ने रीतिकाल की सामाजिक - सांस्कृतिक गतिविधियों को काफी देन न सौंप दिया । अगर वस्तुपरक ढंग से देखा - जाय तो रीतिमुक्त काव्य आन्दोलन तथा अन्य छुट - पुट भक्ति परक धाराएं अपने अन्तिम निष्कर्षों में रीतिवाद विरोधी नहीं तथा जिसकी सामाजिक - सांस्कृतिक - साहित्यिक परम्परा का आधार भक्तकालीन क्रान्तियों से जाकर जुड़ता है । अव्यक्त प्रधान रीतिमुक्त काव्य के प्रतिनिधियों ने कठोर व जटिल सामन्तीय नियमावलियों और रीतियों के विरोध के माध्यम से समाज की मुक्ति की आकांक्षा लगाए बैठे दलित वर्गों का समर्थन किया । ° सुजान ° अपनी मुक्ति की मंजिल और उद्देश्य में परिवर्तित हो गई । ताजगी और बदलाव के समर्थक रीतिमुक्त कवि बेपरवाह, बिहारी, देव, पद्माकर आदि रीतिकवियों की भांति बने - बनाए, ढले हुए साहित्यिक पैटर्नों पर नहीं चले । इसी प्रकार में बंधनों और उनके आधारों से मुक्ति की चाह रखने वाले साहित्यकारों ने उनके पूर्व - निर्धारित रूपों और श्रेणियों के अंतर्गत अपनी वास्तविक भावनाओं और व्यक्तिगत अनुभव को कोई स्थान नहीं दिया । में रीतिमुक्त कवि रीतिबद्ध कवियों से, ° इस बात में भिन्न थे कि उन्होंने ब्रज से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण उदाहरण उनके शास्त्रीय अर्थ को नहीं रखा है । अधिकांशतः में ये भी शृंगारी कवि थे और उन्होंने भी शृंगार रस के फुटकर पद कहे हैं । रचना - शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है । ऐसे कवियों में घनानंद सर्वश्रेष्ठ कवि हुए हैं । इस प्रकार के अच्छे कवियों की रचनाओं में प्रायः मार्मिक और अनोखे पदों की संख्या कुछ अधिक पाई जाती है । °[1] इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि तत्कालीन सामाजिक विसंगतियों ने घनानंद, बोधा, आलम आदि को एक सीमा तक अन्तर्मुखी बना दिया था । सामाजिक वातावरण ने, मैत्रिक - बौद्धिक आदि स्तरों पर, उन्हें स्वयं के भीतर सिकुड़ जाने के लिए बाध्य कर दिया । जहां तक सामान्य रचना शैली का सवाल है तब अपेक्षाकृत

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 222

किसी भी एक युग में एक जैसी ही परंपरा है लेकिन जहां तक उसमें निहित भावों और अंतर्वस्तु का सवाल है वह रूप में थोड़ा - बहुत अनुकूल परिवर्तन कर , भिन्नता भी प्राप्त कर सकती है । समानंद शर्मा ने भी रीतिकालीन रचना - शैली का आश्रय लेते हुए व्यक्तिगत दुःखों , पीड़ाओं और वियोगों को , वास्तविक अनुभूतियों में डुबा - मिलाकर , उच्छ्वसित स्वच्छता के साथ व्यक्त । यह ठीक है कि समानंद की भावनाएं सामाजिक जीवन से प्रभावित जरूर थी मगर उन्हें दरबारी नहीं कहा जा सकता ।

संक्रमण का आरम्भ -

वास्तव में 18 वीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में हुई सामन्ती - ढांचे की विघटन - प्रक्रिया का ही परिणाम था कि 19 वी शताब्दी के पहले तीन दशकों के समाप्त होते - होते भारतीय सामंत - वर्ग अपनी बची - खुची ताकत का अधिकांश गंवा चुका था । इसी दौरान समाज की आधारभूत तहों में कुछ ऐसे बुनियादी परिवर्तनों , उपनिवेशवादियों की उपस्थिति से गर्म होती उस चेतना की चिंगारी से भारतीय - समाज में एक नवीन हलचल हुई । इसकी पहल जिन्दगी की सामान्य कार्यवाहियों से होती है । नई - शिक्षा , प्रेस व पत्रकारिता का उदय , शिक्षात्मक संस्थाओं का उदय एवं गठन तथा इन सभी कार्यवाहियों को संघटित व संप्रेषित करने के लिए जातीय भाषाओं के गठन की प्रक्रिया का प्रारम्भ होना शर्मा - शर्मा ने सामाजिक - संगठन में एक बुनियादी हलचल और क्रांतिकारी थिरकन पैदा की । इससे उपजे सामाजिक व राष्ट्रीय जागरण ने 19 वीं शताब्दी के पूर्व में संकुचित होना शुरू किया तथा धीरे - धीरे समाज की परतों में स्वयं की जड़ों को विकसित किया तब जाकर उत्तरार्द्ध में साहित्यिक - सांस्कृतिक - मोर्चे पर नवीन प्रवृत्तियों की गति को ठोस रूप हासिल हुआ । नई साहित्यिक हलचलों ने , भाव व भाषा के स्तर पर अनेक प्रकार की चुनौतियों का सामना करते हुए , भविष्य के लिए एक नया मार्ग उजागर किया । नवीन विचारों एवं मूल्यों ने पुराने साहित्यिक - सांस्कृतिक मूल्यों तथा आधारों से लड़ते हुए , एक निरंतरता में अपने पूर्व - विकास एवं भविष्य की दिशा का निर्धारण भी किया । इस

इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उन सांस्कृतिक - सर्जनात्मक शक्तियों की नींव पड़ी जिन्होंने कालान्तर में होने वाले सामाजिक - राजनैतिक आंदोलनों के मध्य उस चेतना के प्रचार - एवं प्रसार के लिए एक निश्चित भूमिका अदा की । वास्तविक रूप - रूप में उन सर्जनात्मक - शक्तियों , सांस्कृतिक विचारों एवं दृष्टियों की पहुंच का दायरा सीमित था मगर राष्ट्रीय जागरण के विभिन्न चरणों तथा समाज में चले अंतर्विरोधों के मध्य संघर्ष प्रवृत्ति व उनकी प्रवृत्ति से जनता को रूबरू कराया । यह क्षमता अर्जित करने के लिए नई सर्जनात्मक शक्तियों को एक लम्बा संघर्ष तथा एक लम्बा - सामाजिक परिवर्तन सहन करना पड़ा । लेकिन बुनियादी परिवर्तनों की गर्मी ने उनकी सहायता की । संक्षेप रूप में हुए अधिकांश परिवर्तनों ने पुराने संकीर्ण और प्रगति - विरोधी सांस्कृतिक - सामाजिक प्रगति के विरोधी मान्यताओं और सोचने तथा समझने एवं चिन्तन के आर्थिक व सामाजिक आधारों को तोड़ना शुरू किया । हालांकि पुराने को परास्त किसी थी मगर गतिशील मूल्यों एवं विचारों के साथ उसका चुनौती संघर्ष अवश्यंभावी था । इसी प्रकार अतीत सांस्कृतिक - सांस्कृतिक विचारों व मूल्यों को यहां एक ओर सामन्ती मान्यताओं से संघर्ष करना पड़ा वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने अस्तित्व के रूप का ढांचा भी खड़ा करना शुरू किया ।

हम देखते हैं कि संक्रमणकाल की पूर्व - संध्या पर सामाजिक - आर्थिक और अन्ततः सांस्कृतिक क्षेत्र में निहित मूल्य व स्थापित मान्यताओं में बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता तो थी , चाहे इसे महसूस व अभिव्यक्त करने के स्तर विभिन्न स्तर के रहे हों मगर उसकी दूसरे - शब्द अंग की गई अथवा नहीं यह विवादास्पद है । मगर यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि उस काल के विखंडित व ढीले रूप से पुनः संगठित सामन्ती ढांचे में एक और अधिक समय तक कायम रहने की शक्ति की मात्रा अब नहीं बची थी । पूर्वमध्यकाल के प्रबल सांस्कृतिक - सामाजिक आन्दोलनों में जितना विचारधारात्मक खलल प्रगतिमान था , उस ढांचे को विकेन्द्रीकृत करके बेहद कमजोर कर दिया था मगर उसके बदले में उन शक्तियों को अधिकांश शक्ति हल गई । लेकिन उसके तुरन्त बाद ही सामन्तीय शक्ति - पुंजों ने एक बार पुनः यथास्थिति पर लौट जाने की पुरजोर कोशिशें की । और वे एक सीमा तक असंतुलित रूप से संगठित भी

पुए । रीतिकालीन साहित्यिक गतिविधियों में प्रधानता प्रदान करने का श्रेय उन्हीं को जाता है । उस दौरान ० सार्वभौमिक संगठन तथा आर्थिक आधारों के अभाव के कारण ही प्रगति पक सामाजिक - साहित्यिक एकिकयों पारदर्शी - स्थिति में *[illegible]* थेत्र दी गई थीं ।

एसतराय पुरैन ने ० उर्दू साहित्य के इतिहास में इस काल से सम्बन्धित एक बात बड़ी मार्के की लिख है और वह यह कि - ० 18 वीं शताब्दी के अन्त और 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में जागीरदारी काल का पतन और नई एकिकयों का उभरना नई समस्याएँ पैदा कर रहा था और राजनैतिक परिवर्तनों ने संस्कृति की बाढ़ को रोक दिया था । इसलिए उसे किसी अंग में ‖ विशेष ‖ प्रगति नहीं देखा पड़ती । केवल राजदरबार ० राजधानी या उससे थोड़ा आगे बढ़कर कुछ प्रमुख नगर ० साहित्य ० कला और संस्कृति का केंद्र बने हुए थे । ०[1] यह सच है कि संस्कृति की बाढ़ में एक झटका जरूर लगा था लगा उसकी बाढ़ रुक गई हो ऐसा नहीं है । हुकूमत व्यवस्थाएँ के टूटने व बनने समय सामाजिक स्थितियाँ बनती व बिगड़ती है जिस दौरान उनकी कड़ियाँ से लेखक कट भी जाते है । दूसरा यह कि पुरानी व्यवस्था के साहित्यिक प्रतिनिधि समाप्ति की स्थिति में होते तथा नवीन प्रतिनिधि निश्चित व्यवस्था निर्माण - प्रक्रिया में । लेकिन फिर भी इसका सही रूप है कि साहित्य एवं संस्कृति की गति धीमी पड़ जाती है । जैसा कि पुरैन का मानना है कि जागीरदारी के पतन व नई एकिकयों के उभरने के उक्त 50 वर्ष साहित्यिक दृष्टिकोण से कम महत्वपूर्ण नहीं है । यह वह काल था जिसमें सदियों से सामाजिक उत्पादन पर वर्चस्व जमाए रखने वाले सामन्तीय वर्ग का विघटन और अपक्षय हुआ । कहना न होगा कि यह काल सम्पूर्ण समाज के पतन का काल न होकर शासक वर्ग की एकिकता और चेतना के पतन का काल था । और इस कारण ० जो परिवर्तन हो रहे थे उनका अनुभव बहुत थोड़े से लोग कर सकते थे । कवि और लेखक पुरानी परंपराओं से चिपटे हुए उस सभ्यता की आदर्शवादी कल्पनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे जो छिन्न - भिन्न हो रही थी ।[2] ० इसी छिन्न - भिन्न होती सामन्तीय जीवन से

---

1. एसतराय पुरैन ० उर्दू साहित्य का इतिहास ० पृ० 125
2. वही० पृ० 177

सम्बन्धित परम्परा की परिणति के अन्तिम बड़े प्रतिनिधि थे पद्माकर तथा दूसरी तरफ उर्दू में यही भूमिका निभाने वाले थे मीर और सौदा । हिन्दी रीतिकाव्य की दूसरी श्रेणी के अन्य कवि ठाकुर भी लगभग इसी श्रेणी में आते हैं । मगर इन सबमें अपना एक अलग व्यक्तित्व रखने वाले थे गंभीर अध्ययनशील और दरबारदारी आदि से दूर रहकर जनता की आवाज को वाणी दे रहे थे ।

जिस तरह पद्माकर आदि के आश्रयदाताओं में सामंतीय स्तर पर होने वाली हलचलों को अभिव्यक्ति हुई थी - उसी तरह पद्माकर ने भी साहित्य के क्षेत्र में उन व्यापक सामंतीय हलचलों को झलकाते हुए रीति व लक्षणग्रंथ रचनायें की । सामंतीय - पाठक - आश्रयदाता की रुचि इस काल के दरबारों में भी सामंतीय ढर्रे व उसकी परिपाटियों को बनाए रखने में अत्यधिक रुचि ली । पद्माकर द्वारा रचित ° जिम्मत - बहादुर विरुदावली ° रीति - काव्य ° परम्परा की अन्तिम बड़ी रचना मानी जाती है । लेकिन राजनैतिक - सामंतीय आदि घटनाओं का उल्लेख उसमें नहीं है । इसी प्रकार पद्माभरण ° नाम लक्षण - ग्रंथ भी दोहा ,छंद , विहारी आदि की परम्परा की अन्तिम कड़ी है । यह ग्रन्थ मानों उस त्यागी परम्परा का उपसंहार रच कर आया । निःसंदेह इन ग्रन्थों में सामंतीय जीवन के आधारों के विखंडन को छिपाने की कोशिशें की गई है । पद्माकर की आधार व विषय वस्तु में एक सुनिश्चित योजना मिलती है जैसे -

बालै मुनि मंजुली चित में सुचैन दिए ,
सित पल आगम अनेरे अलि सुख दिए ।
कवे पद्माकर सुपद मंजु भाखत हैं,
जाय लौ चकोरीन चकोर मुखि-2 दिए ।
कक्ष, अनार , दाख दाए अलोल थोक,
लगि समेत लोने - 2 लोग भूमि रहे ।
पुलि रहे , दलि रहे , फलि रहे , फैलि रहे ,
जीप रहे, जीन रहे, जीव रहे , टीम रहे ।

इस काल (18वीं शताब्दी के अन्तिम 25 वर्ष) के दूसरे बड़े कवि थे ठाकुर (1766 - 1823) इन्होंने सामन्तीय रुचियों को ध्यान में रखकर ही काव्य रचनायें की अतः उनमें शृंगारिकता और चमत्कार का क्रम है से एक बड़ी सीमा तक उलझे हुए थे । इन्होंने शृंगारी भावों को सहज और अनुकूल भाषा और शिल्प प्रदान किया । ° ठाकुर प्रधानतः प्रेमनिरूपक होने पर भी लोक व्यवहार के अनेकांगदर्शी कवि थे । इसी से प्रेमभाव की अपनी स्वाभाविक तन्मयता से प्रतिपादन की तो ये सखी० फाग० वसंत० होली० हिंडोरा आदि उत्सवों के उल्लास में मग्न चित्रण पड़ते है ० कभी लोगों की क्षुद्रता ० कुटिलता ० दुःशीलता आदि पर क्षोभ प्रकट करते पाये जाते है और कभी काल की गति पर खिन्न और उदास होते जाते है । ° [1]

सीधी सीन्धें मीन - भृगा खंजर कंज नैन
सीधी सीन्धें दया धर्म प्रताप की रचना है ।

- - - - - - -

ठेल लो हत्याय धाय मैलत सभा के बीच ०
लोग न दूषित पीछे ठेल दिए जाने है ।।
आदि - आदि

तुलनात्मक रूप से ० इस युग की समग्र चेतना को चित्त तीक्ष्णता और दोहरी के साथ ° मीर ° ० ° सौदा० °दर्द ° आदि ने अभिव्यक्त किया वह एक भिन्न स्थिति में समर्पित होते हुए भी अधिक सटीक और प्रस्तुत है । सामन्तीय सभ्यता के साथ नजदीकी का रिश्ता होने के कारण ० सत्कालीन ढहते सामन्तीय मूल्य - ढाचों ने इन कवियों की संवेदना एवं चेतना पर गहरा प्रभाव छोड़ा । परिणामस्वरूप प्राप्त छंद और पीड़ा को इन कवियों की रचनाओं से सीधे - सीधे अनुभव किया जा सकता है जिसे इन्होंने आत्मीय ढंगों के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की । इस काल के प्रतिनिधि कवि ° मीर° ने इस काल का जायका अपनी कविताओं में कुछ इस तरह व्यक्त किया है -

- - - - - - - - - -

1. रामचन्द्र शुक्ल० हिन्दी साहित्य का इतिहास ० पृ० 263

खरगोश पाल की थी, सारी मेरे दोस्त में।
सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ।।
जिन्दगी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ।
नौजवानों सुनो ये। यह बस्ती उजाड़ है।।

दरबारे अकबरी के "नवरत्न"[1] की अतिरिक्त सीमित सामाजिक दायरे में उस काल के कवियों के केवल भाषा एवं विषयों को सीमित करने तथा साथ-साथ उनके विचारधारात्मक संगठन को भी सिकुड़ने के लिए बाध्य कर दिया। उनकी साहित्य और जीवन सम्बन्धी दृष्टि अत्यन्त सीमित थी गई। शायद उसे उनकी सामाजिक परिस्थितियों की उपज भी कहें तो अनुचित अधिक उचित प्रतीत होगा। क्योंकि जिस वर्ग के साथ उनकी सामाजिक आर्थिक गतिविधियों का रिश्ता था वह स्वयं विनष्ट होने की प्रक्रिया में पड़ चुका था। तब उस स्थिति में बहुत और थोड़ा से अतिरिक्त कुछ व्यक्त करने की उन्हें जरूरत न थी। "उर्दू कविता का यह युग केवल इस लिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इसने दर्द, सौदा और मीर को जन्म दिया बल्कि इस युग में उर्दू साहित्य की जैसे पूरी तरह जीवन में फैली और महान कवियों ने उस मिटती हुई संस्कृति का चित्रण करके ऐतिहासिक महत्व का काम किया। अगरचे यह कवि पतन युग के कठिनाइयों और नैराश्य के प्रतीक थे पर मनुष्य जाति के गौरव और अभिमान का पता भी इनकी दुखभरी कविता से चलता है। जीवन में सब कुछ पा जाने के बाद भी वह जीवन की प्रशंसा और खोज में लगे हुए थे।"[1] लेकिन इसके बाद थोड़े से वर्षों का यह काल भी छाया रूप लक्षणा - रूप में कवियों में रीतिवादी कवियों की तरह ही शिल्प व अप्रचलित प्रयोगों को ही काव्य मानकर विभिन्न रूप व आकारों में ढालना आरम्भ किया। उर्दू की यह परम्परा पक्की एवं गतिशील के साथ तक उर्दू साहित्य पर छायी रही।

ऐसा नहीं है कि संक्रमण काल के आरम्भिक 25 वर्षों और पूर्व - संध्या पर केवल रीतिप्रधान लक्षणा - परक शब्दों के विचित्र रूपों आकार मिली

---

1. अब्दुल्लाह चुगताई, उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० 86

पीड़ा और मेहनत की ही प्रधान लक्ष्य मानते हुए भाव रचना हुई ।[1]

चूंकि साहित्य का सम्बन्ध लेखक की चेतना और वर्ग - विभाजित समाज में उसके सम्पर्कों पर आधारित होता है, इसलिए एक ही युग में कई बातियां बोलने वाले कवि और लेखक मिल जाते हैं । इस विभिन्नता को केवल उनके व्यक्ति का परिणाम नहीं कहा जाता , बल्कि सामाजिक - चेतना का भावपूर्ण रूप है ।[1] अपनी भिन्न सामाजिक - चेतना और ताज़गी भरी बानी बोलने वाले एक अन्य महत्त्वपूर्ण कवि नज़ीर इस काल की व्यापक जन - चेतना की अभिव्यक्ति के एक मात्र प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं । साहित्यिक क्षेत्र में भी, इस काल को घोर - निराशा , अंधकार आदि का युग घोषित करने वाले अगर नज़ीर अकबराबादी की कविता पर एक नज़र डालें तो शायद उन्हें निराशा ही हाथ लगे । यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि सामन्तीय और भाववादी दृष्टिकोणों से पीड़ित चेतना और विचार प्रणालियों पर आधारित आलोचनात्मक दृष्टि रखने वालों ने एक लम्बे काल से तक नज़ीर को न तो उर्दू में ही शामिल किया और न ही हिन्दी में । शायद इसलिए कि नज़ीर अपनी कविता समेत, साहित्यिक परम्पराओं में इन सामाजिक खटकों के लिए एक बड़ी चुनौती और समस्या बने रहे हैं । भिन्न आम - मानव के कलात्मक और सांस्कृतिक हितों के पोषक नज़ीर की कविताओं की प्रासंगिकता कभी समाप्त न होने वाली प्रासंगिकता है । जिस समय सामंतीय शासक - वर्ग अपने सामाजिक - आर्थिक अस्तित्व को बचाए रखने की हर सम्भव कोशिशों में लगे थे, उसी काल में कवि नज़ीर अकबराबादी ने आम - आदमी को अध्यधिक बारीकी के साथ बहुत करीब से जानने - पहचानने की कोशिश की । नज़ीर ने परम्परा व सामयिकता में निहित प्रगतिपरक चेतना के सूत्रों को एक जगह पिरोकर एक विशिष्ट धारा को अस्तित्व में लाने की कोशिश करते हुए रीतिकाल व उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति में अनुपस्थित मानवता के प्रति प्रेम को एक बार फिर स्थापित व प्रतिष्ठित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया ।

- - - - - - - - - -

1. एहतेशाम हुसैन, उर्दू साहित्य का इतिहास , पृ० 214

कहना न होगा कि नजीर ने अपने काल की आत्मा की आवाज को उसकी सम्पूर्ण समग्रता व वैविध्य के साथ मुखरित व मिलाते हुए , लोक - वाणी के रूप में समाज के सामने रखा । इस कष्ट - साध्य प्रक्रिया में उन्होंने परम्परा से बहुत - कुछ ग्रहण किया तथा अतीत , वर्तमान व भविष्य तीनों से जुड़कर काव्य - रचना की । बल्कि कहना चाहिए कि नजीर ने लम्बी दूरगामी व गतिशील भारतीय साहित्यिक - सांस्कृतिक परम्पराओं को अपनी सर्जनात्मक कल्पना का अंग बनाते हुए जातीय साहित्य की परम्परा के निर्माण की चेष्टा की । इस मामले में नजीर एक साथ साहिब, सौदा , तुलसी, सूर एवं कबीर आदि की परम्परा से जाकर जुड़ते हैं । नजीर अकबराबादी ने साहित्यिक और सांस्कृतिक उत्पादन की सीमितताओं का खंडन करते हुए , रीतिबद्ध दरबारी काव्य के आधारों पर चोट करते हुए कविता को उसके मुक्त - वास्तविक स्रोतों से जोड़ा । काव्य में परम्परागत रीतिपरक शृंगारिक वीरों के स्थान पर ' अवांछनीय' समग्र मानव को नायक का दर्जा दिया । उन्होंने आम आदमी की उसकी समग्र कमजोरियों , ताकतों , बेकारी , दरिद्रता , भूख और सरस - सरसता के सन्दर्भ में देखा । राष्ट्रीय और धार्मिक त्योहारों के साथ ही मध्यकाल: वाणिज्य को भी अपनी वाणी का अंग बना लिया । ' उनकी विशेषता है उनका यथार्थवाद । उन्हें जीवन , समाज और चारों तरफ की दुनिया में एक कविता के लिए सामग्री मिल जाती है । उनका यह क्रान्तिकारी महत्त्व है कि पाश्चात्य नैरन्तर्य से बहुत पहले उन्होंने छोटी - मोटी चीजों पर कविताएं लिखकर मानव - संवेदना को व्यापक बनाया था । वह ' बरसात ' पर भी लिखते हैं और ' उन्हाल ' पर भी । वह ' आगरे की तैराकी ' देखते हैं, यहां कबूतरों का एक लेते हैं , यहां की ' मुर्गाबी ' पर रीझते हैं । ' एक कोरे बरतन ' में पानी की बूंद का बखान नजीर ही कर सकते हैं । '[1]

नजीर ने पददलित आम आदमी को अपनी सहानुभूति प्रदान करते हुए , इस स्तर के विषयों को अपनी रचनाओं के लिए चुना जोकि दरबारी सामंतीय चेतना से पीड़ित कवियों के लिए ' निम्न तुच्छ', ' पांडित्यहीन' और ' अयुक्त ' थे । उनकी रचनाओं के आधार पर उन्हें भारत का प्रथम जन कवि

---

1. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज , पृ० 333

कहा जाय तो अनुचित न होगा । उनकी कविताओं में नूपुरों की ध्वनि और इत्रों की महक के स्थान पर परिश्रमित आदमी का क्रंदन , कर्म के पसीने से भीगी माटी की गंध मिलती है --- ' कुदालिसी ' कविता ---

पीने को कुछ न और खाने को और न रुकावी है ।
कुदालिसी के साथ सबके तईं बेचिजाबी है ।।
मुकालिस की जोरू सच है कि वो सबकी भाभी है ।
एज्जत सब उसके दिल की गंवाती है मुदालिसी ।।
बेरोजगारी यह दिखाई है मुफलिसी ।
कोठे की छत नहीं है यह छाई है मुफलिसी ।।
दीवारो दर के बीच समाई है मुफलिसी ।
घर घर में इस तरह से फिर आई है मुफलिसी ।
पानी का छूट जावे है इक बार बंद ।।

जिस तन्मयता के साथ नजीर लोगों की गरीबी से तार - तार जिन्दगी में शामिल हो जाते है उसी के साथ वे उनकी खुशियों में भी ---

जो देखे उसकी सूरत , से प्यार से खिलावे ,
गोदी उठाले और छेड़कर हंसावे ,
मुंह कभी दबन को , छाती कभी लगावे ,
कोई चुमी मुंह में देवे , कोई झुन झुना लगावे ।
- ' बालक ' -

वे प्रकृति को भी उसी नजदीकीपन के साथ निहारते है -

बादल हवा के ऊपर हो मस्त छा रहे है ।
झाड़ियों की अंखियों से मुंह मचा रहे है ।।
पड़ते है पानी पर जाए जल - थल बना रहे है ।
गुलजारी भीगते है, सब्जे नहा रहे है ।।
क्या - क्या मची है यारो बरसात की बहारें ।।

नजीर की कविता की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह तत्कालीन समाज के जीवन की हर धड़कन व गति को बिना किसी लाग - लपेट के अंकित

करती है । इसका एक बड़ा कारण है तत्कालीन जीवन में उनकी सक्रिय भागीदारी । उनकी कविता में पांडित्य की झलक, कृत्रिमता और जामाजोड़ नहीं है । वहां चमत्कार है लेकिन आम आदमी के भीषण शोषण की अभिव्यक्ति का चमत्कार । उनके काव्य में वह ° साहित्यिकता ° भी नहीं जिसके आधार पर भाववादी आलोचकों को कुछ करते धरना पड़े । उसमें तो वह अस्खलित जीवन्तता है जो शासक - वर्ग और भाववादी आलोचकों के सामने गम्भीर चुनौती उपस्थित करती है । इसमें सन्देह नहीं कि नजीर का रचना - संसार और ° तत्कालीन ° जीवन का पूंजीपति रूप , तत्कालीन समाज के वर्ग - विभेद - जन्य व उनपर आधारित रचना - प्रक्रियाओं एवं दृष्टियों की कमजोरियों तथा प्रबलताओं को साफ - साफ ढंग से उजागर करता है । जिस संक्रमण काल के प्रथम वर्षों में पद्माकर आदि ने ° शिष्ट - सभ्यता ° की अभिरुचियों और साहित्यिक आवश्यकताओं से परिचालित होकर ° पद्माचरण ° तथा शृंगारिक पदों की रचनाएं कीं वहीं दूसरी ओर नजीर ने शोषित समाज की इच्छाओं , आकांक्षाओं को व्यापक रूप में रखकर ° आदमीनामा ° आदि रचनाएं कीं ।

°बंजारा आदमीनामा ° से —

जितने हैं आज आगरे में कारबारी बनजात ।
सब पर पड़ी है आन के रोजी की मुश्किलात ।।
किस - किस के दुःख को रोइए और किसकी कहिए बात ।
रोजी के हत्थ दस्त का मिलता नहीं है पात ।।
ऐसी हवा कुछ आ के हुई एक बार बंद ।।

° आदमीनामा ° से —

दुनिया में बादशाह है सो है वह भी आदमी ।
और मुफलिसी[1] गदा[2] है सो है वह भी आदमी ।।
जरदार[3] बेनवा[4] है सो है वह भी आदमी ।
नेमत[5] जो खा रहा है सो है वह भी आदमी ।।
टुकड़े जो मांगता है सो है वह भी आदमी ।।

---

1. दरिद्र 2. धनवान 3. गरीब 4. ईश्वर प्रदत्त अच्छी चीजें ।

इसमें कोई भी राय नहीं हो सकती कि जीवन का अत्यधिक निकट से परिचय होने के कारण ही नजीर अकबराबादी की रचनाओं में मानव के प्रति प्रेम और आस्था की तीव्र ललक व लगाव मिलता है। लगता है अपने आस - पास की प्रत्येक वस्तु को निरख - परख कर उसका कई तरह से जायजा लेते हुए ही नजीर ने उन्हें अपने काव्य की वस्तु बनाया। जीवन व जगत के साथ गहरा तादात्म्य होने के कारण ही, ° नजीर के अनुभव का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह भारतीय जीवन के बारे में सभी कुछ जानते हुए जान पड़ते हैं। यह ठीक है कि नजीर के पास कोई दार्शनिक दृष्टि नहीं है परन्तु वह जीवन की समस्याओं में इस प्रकार प्रविष्ट किए हुए हैं कि उन्हें सब बातें अपने आप मालूम हैं। • • • यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह देश की आर्थिक समस्याओं को वैज्ञानिक ढंग से नहीं जानते थे वर्गों के आंतरिक संघर्ष का विशेष ध्यान नहीं रखते थे पर एक सच्चे मानव - प्रेमी होने के नाते वह जनता के सुख - दुःख का ध्यान रखा लेते थे क्योंकि वह उन्हीं में से एक थे। °

जिस समय नजीर पद्माकर आदि अपने जीवन - काल की अन्तिम रचनाओं में व्यस्त थे, उसी समय समाज की बुनियादी तहों में परिवर्तन की प्रक्रिया धीरे - धीरे गति प्राप्त कर रही थी। यद्यपि वह अत्यन्त मंद थी लेकिन फिर भी पुराने आधारों को तोड़ने में उसने कमी नहीं आने दी। हम देखते हैं कि पुरानी से नई व्यवस्था में परिवर्तन के दौरान आधार तत्व और प्रतिफलित बौद्धिक गतिविधियों के स्वरूप यकायक नहीं बदले। आमतौर पर इस दौरान दृष्टि, मूल्यों एवं मान्यताओं में होने वाला संक्रमण कशमकश एक युग के रूप में सामने आता है। जब तक यह युग समाप्त नहीं हो जाता। यह नई व्यवस्था में होने वाले नये तत्वों की शक्ति तथा परिवर्तन की गति पर निर्भर है। तब तक पुरानी व्यवस्था के विभिन्न मूल्य और उनके रक्षक - पोषक भरसक रूप से यह आशा और प्रयत्न करते हैं कि मिटती व्यवस्था वापस यथास्थिति पर लौट जाये हालांकि वे इस तथ्य से पूरी तरह परिचित होते हैं कि उन्हें इतिहास के लिए बेकार - फेंका जा रहा है। लेकिन ° लॉस्ट पैराडाइज ° को पुनः प्राप्त करने के उनके प्रयत्न एक लम्बे काल तक जारी रखते हैं। निःसंदेह यह युग परस्पर

विरोधी तत्वों और अंतर्विरोधों का युग होता है जिसमें ° नया ° व ° पुराना° एक लम्बे काल तक संघर्षरत रहते हैं । हांलाकि नए का स्पष्ट साहित्यिक प्रतिफलन दूसरे दशकों बाद शुरु होता है लेकिन जीवन के दूसरे क्षेत्रों में इसकी गति तेज मालूम पड़ती है । जहाँ तक रीतिकाल के सामन्ती मूल्यों से आधुनिक काल में मूल्यों के संक्रमण का प्रश्न है ° भारतवर्ष के लिए यह युग विचित्र समस्याओं का युग था । एक ओर उस नवीनता का अभ्युदय/ उद्भव हो रहा था जो नई आर्थिक स्थिति से उत्पन्न हो रही थी और दूसरी ओर वही रीति नीति पर चलने वाला भारतवर्ष था जिसके देशज सोए हुए थे और नागरिक नए और पुराने के बीच में अपना पथ टटोल रहे थे । इस युग का विश्लेषण इसलिए भी आसान नहीं है कि देश का सामन्ती युग मिटकर मिटा नहीं था । और नव जागरण केवल अभी कुछ लोगों के मानसिक क्षितिज को छू सका था । इसलिए नई और पुरानी लहरें-समानांतर चल रही थी । °[1]

भारतीय सामाजिक - ऐतिहासिक विकासक्रम में हुए ° आधुनिक परिवर्तनों के कारण एक नए विकास ० सांस्कृतिक पुर्नगठन ० जातीय भाषा तथा उसके नए साहित्य ° व रूप के उद्भव और विकास के लिहाज से १९ वीं सदी का यह पूर्वार्द्ध ० संक्रमणकाल एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया थी । दरअसल ० आधुनिक भारतीय भाषा - साहित्यकी नींव इसी सदी में पड़ी । संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्रों में क्षेत्रीयतावाद के टूटने के कारण संकीर्ण दृष्टिकोण ध्वस्त हुए । इसमें दो राय नहीं कि सामाजिक - साहित्यिक सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया क्षेत्र के विभिन्न भागों में हुए आर्थिक - राजनीतिक परिवर्तनों की प्रक्रिया के साथ - साथ चली लेकिन उसकी गति धीमी और अनेक अवरोधों से ग्रस्त रही । जैसाकि हम देखते हैं ° भाषा व साहित्य ° के मामले में ० नवीकरण के क्षेत्र में ० बंगाली साहित्य ने पहल व प्रथम शुरुआत की । उसने समयानुकूल नए नए भाव ० नयारु संगठित भाषाई रूप ० नई विधाएं (कहानी ० कविता ० नाटक० उपन्यास ० आलोचना आदि) अपनायीं । इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि बदली परिस्थितियों में जन्मे सांस ले रहे बंगाली मध्यम - बुद्धिजीवी वर्ग के यूरोपियन साहित्य के साथ हुए सम्बन्धों का सिलसिला कमोबेश १८ वीं सदी के अन्तिम वर्षों में शुरु हो गया था । १९ वीं सदी के प्रथम तीन दशकों में उसने न केवल

१० एलप्रसाद दुबेन ० ° वही° ० पृ० १७१

भाषा के जातीय - शास्त्रीय रूप का निर्माण ही कर लिया वरन् आधुनिक वातावरण की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों की रूपरेखा विकसित कर ली थी । यही कारण है कि बंगाली साहित्य के क्षेत्र में निर्मित एवं प्रचलित नई विधाओं और - तरीकों और सौन्दर्य परम्पराओं में कुछ देर बाद शुरुआत करने वाली अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के स्वरूप निर्माण व विचार धारात्मक आलोड़नों पर बड़ा असर डाला । कहना न होगा कि सामूहिक भारतीय साहित्यिक अनुभव और संस्कृति के विकास में नए आयामों और स्तरों के उद्घाटन , निश्चित स्वरूपात्मक गठन और विकास में बंगाली - साहित्य का योगदान महत्वपूर्ण रहा है । नई सामाजिक शक्तियों के साथ जल्दी ही सम्पर्क व सम्बन्ध स्थापित होने के कारण ही यह संभव हो सका । नेहरू लिखते हैं कि - " बंगाल से शुरू में ही व्यापित सम्पर्कों में बंगाली में आर्थिक, सामाजिक , बौद्धिक और राजनीतिक आन्दोलनों को कुछ पहले ही जन्म दे दिया जिनकी छाप देश के अन्य कई हिस्सों में देखने को मिलती है परन्तु उनकी सघनता वह जैसी नहीं है । क्योंकि उन हिस्सों में सामन्तीय व्यवस्था और कुछ मिलाकर उस की व्यवस्था में घुन विलीन या तो हुए ही नहीं या फिर उनकी गति अत्यन्त धीमी थी । "[1]

कुछ बंगाल और विदेश प्रवासों में बंगाल उपनिवेशवादी " नए - परिवर्तनों " आदि के माध्यम से अपनी जड़े मजबूत कर रहे थे इसलिए " पश्चिम " से आने वाला वाणिज्यक व व्यापारी वर्ग का छोटा - मोटा तबका उनके सीमित संसार में अपना विकास करने लग पड़ा था । कहना न होगा कि यह वही समय था 19 वीं सदी के प्रारम्भिक वर्ष जिस समय पद्मलोचन अपने लक्षण ग्रंथ " पद्मालोचन " तथा " नजीर " अपने अपने " बादशाहनामा " में व्यस्त थे । उन्हीं के समानांतर दूसरी ओर " नई - नस्र " की भूमिका बनती शुरू हो गई थी । " नई - नस्र " के उल्लेखों व प्रयोग कर्त्ताओं के मध्य सम्प्रेषण की समस्या उभर कर सामने आयी । इस समस्या का बुनियादी हल खोजने के लिए ही बंगाल में फोर्ट विलियम कालिज की नींव डाली । कृत्रिम " काव्य - भाषा " जैसी सीमित शब्दावली युक्त भाषा से सम्प्रेषण की समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता

---

1. ख्वाजा लाल नेहरू , द डिस्कवरी ऑव इंडिया , पृ० 336

था अतः एक ऐसी भाषा की ° खोज ° व उसके गठन पर जोर दिया गया जो सम्पर्क सम्बन्धी आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके । ° प्रथम बात तो यही है कि खोजों ने यह कालिज (फोर्ट विलियम) अपने लाभ के लिए इस्तेमाल किया और यहाँ उसी ढंग के ग्रंथ लिखवाए जो उनके काम के थे । इन ग्रन्थों में समकालीन स्थिति या जनता की स्थिति और स्वतंत्रता के सपनों के संदर्भ में कुछ कहना व्यर्थ होगा । उनका पहला उद्देश्य यही था कि खोज उर्दू भाषा सीख जाय यह और बात है कि उनमें की कुछ पुस्तकें उच्चकोटि की रचनाएं सिद्ध हुई और गद्य साहित्य के विकास में उनकी महानता स्वीकार की गई । ° इन रचनाओं में ° रानी केतकी और उदयभान की कहानी° । ° बैतालपचीसी । ° सिंहासन बत्तीसी । ° तोताकहानी या ° तूतीनामा । ° प्रेमसागर ° (लल्लू लाल जी) । ° नासिकेतोपाख्यान (सदल मिश्र) आदि उल्लेखनीय है । यह सही है कि इन ग्रंथों में समकालीन स्थिति या जनता की स्थिति और स्वतंत्रता के सपनों के संदर्भ में कुछ कहना व्यर्थ होगा । मगर । इसमें दो मत नहीं हो सकते कि इस प्रयास में संकुचित वास्तविकता की कलात्मक अभिव्यक्ति की संभावनाओं को प्रथम आधार प्रदान की । इन उगते बीजों की देख रेख करने वाली वैशाखियों की निर्मिति का आरम्भ यहीं से होता है । अगर इन रचनाओं में छुपी हुई संकुचित अंतर्वस्तु को देखा जाय तो मालूम होता है कि तत्कालीन नए तत्वों के कमजोर अस्तित्व और उभरते सामाजिक मूल्यों के समीकरणों का वातावरण में प्राधान्य एवं व्यवस्था न होने के कारण ही । उनके लेखक अतीत के विषयों को और उन्मुख हुए । चूंकि इन लेखक - भाषाविदों ° का दृष्टिकोण सामंतीय चेतना से उतना प्रभावित नहीं था जितना कि आस - पास घटित नवीन तत्वों की निर्माण - प्रक्रिया से । अतः हम कह सकते है कि उन रचनाओं में निहित अंतर्वस्तु को नए - तत्वों की गर्मी से प्रभावित करने दिया गया वे इतने आतंकित - सी नहीं थे कि अंतर्वस्तु के विभिन्न अंगों और संघटकों के अंग बन कर आते या फिर अतीत सम्बन्धी विषय की कलात्मक व्याख्या व पुनर्जीवन को पूरी तरह अपने अनुकूल मोड़ लेते । अतः उपस्थित निर्यात को भरने के लिए उक्त ° लेखक - भाषा - विदों ° को बहुत सी अनावश्यक बातों एवं घटनाओं का सहारा लेना पड़ा ।

1° पद्मसिंह शर्मा । वही । पृ० 170

उस स्थिति में यह ऐतिहासिक रूप से उचित भी था क्योंकि नए पूंजीवादी तत्वों से निर्मित वातावरण के नायक व उसकी वैसी मानसिकता भी स्थितियों का निर्माण होना तो दूर रहा उनकी विकास - सम्बन्धी पहली मंजिल भी विकसित न हो सकी थी । सुरू की प्रथम और महत्वपूर्ण रचना ° किस्सानए - अजायब ° भी इसी श्रेणी में आती है । दरअस्ल यह कहानी 1824 में लिखी गई और जैसा कि इस समय की कहानियों में होता था यह कहानी भी अस्वाभाविक बातों से भरी पुई है । इस पर ° पद्मावत° और ° अलिफ - लैला ° का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है । ° [1] लेकिन यह बुनियादी - ऐतिहासिक सत्य है कि हिन्दुस्तानी खड़ी - बोली को अभिव्यक्ति के स्तर पर कायम करने की दिशा में इनका महत्व सबसे अधिक था ।

रीतिकाव्य का अन्तिम चरण -

इस काल में जहाँ एक ओर नए तत्व विकास और समृद्धि की दृष्टि से शक्ति संचित कर रहे थे वहीं दूसरी ओर पुराने तत्व लगातार अपनी शक्ति खोते जा रहे थे । अर्थात् यह युग जहाँ एक ओर नए की प्रसव - पीड़ा से ग्रस्त था तो द्वितीयतः वह पुराने की मौत भी देख रहा था । साहित्यिक स्तर नई कलात्मक - सौन्दर्यात्मक दृष्टि - चेतना का निर्माण हो रहा था जोकि विवेकशील व प्रगतिशील थी तथा उसके साथ ही पुरानी जड़ सामंतीय मनोवृत्ति । मूल्य । दृष्टि और संस्कारों का ह्रास भी हो रहा था । जैसा कि हम देखते हैं और इसी कारण से संक्रमणकाल में पुरानी रीतिपरक साहित्यिक गतिविधियों की परम्परा सांस्कृतिक - साहित्यिक मोर्चे पर नए के विरोध में जमी रही । कहना न होगा कि इस काल के ° महत्वपूर्ण ° कवियों पद्माकर । दीनदयाल गिरि । ग्वाल चन्द्र रोहर बाजपेयी आदि ने पूरी तौर पर सामंतीय चेतना और उससे परिसंपालित मनोवृत्ति के जीर्ण - क्षेत्र में रहकर रचनाएँ की । उन्होंने अपने ° प्रतिबद्ध ° संकीर्ण विचारधारात्मक आग्रहों व

---

1. एहतराम हुसैन । वही । पृ0 172

उद्देश्यों से थोड़ा अलग हटकर उन जीर्ण - शीर्ण दुर्गों में पड़ी लम्बी - चौड़ी दरारों में से झाँकर झाँकना भी उचित न समझा । नई शक्तियों का स्वागत करना तो दूर रहा । उन्होंने उन शक्तियों के किसी भी अस्तित्वमयी रूप को जानने । पहचानने व महसूस करने की चेष्टा तक न की । संक्रमण काल के प्रारंभिक वर्षों में ही लिखा गया पद्माकर का ° पद्माभरण ° ग्रंथ तत्कालीन व्यापक समाज की किसी भी आम सांस्कृतिकता का रसात्मक अंकन न संजो सका। संक्रमण काल के अंतिम - छोर पर स्थित चंद्रशेखर वाजपेयी सब भी अतीत बनते सामंती जीवन की रंगीनियों की झलक को रेखांकित करने की कोशिशों में लगे थे और साथ ही साथ उन्हें भी उपस्थिति भी महसूस कर रहे थे —

कंकन रंजित राजे नूपुर शब्द बेधी बाजे भूपर ।
मनोज दौड़ज के ।

साथ ही इस काल के कुछ कवियों को तो यह शिकायत भी रही कि लोगों ने उन्हें संरक्षण नहीं मिल पाया —

छोड़ के किरंगन को राज में सुधर्म काज ।
जहाँ पोत पुन्य आज चलो वह देश को ।

इस काल में राजा सम्मीर देव को नायक बनाकर लिखी गई कई रचनाओं से संबंधित इस तथ्य से हमें आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए कि इन रचनाओं की उत्पत्ति प्रत्यक्ष - अथवा अप्रत्यक्ष रूप में तत्कालीन राजनैतिक प्रवृत्ति - धाराओं से प्रभावित थीं । विभिन्न छोटे - बड़े दरबारों में आश्रय पाए हुए अनेक कवियों जैसे । जोधराज । ग्वाल चतुर्भुज शेखर वाजपेयी आदि ने सम्मीर देव के वीर - चरित्र को भारतीय सामंती की भावनाओं की प्रतिच्छवि उद्दीपक व उनका नायक बनाकर उन सामंतों के दरते नैतिक मनोबल को बनाए रखने की चेष्टाएं की । 1824 ई० में ग्वाल कवि कृत तथा 1869 में चन्द्र शेखर वाजपेयी द्वारा चित्रित ° सम्मीरहठ° जैसी रचनाएं वृद्ध एवं जर्जर सामंती शासक - वर्गों की राजनैतिक व सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ ही उस वर्ग की रसात्मक व सौन्दर्यात्मक आवश्यकताओं व अभिरुचियों की अभिव्यक्ति को भी उजागर करती है । ग्वाल ने अतीत के सामंतों के वीरतापूर्ण कृत्यों को आधार बनाकर ° वीर सतसई ° तथा काव्यात्मक इतिहास ° वंश - भास्कर ° जैसे ग्रंथ रचे ।

इन रचनाओं की आड़ सामंती नेतृत्व में लड़े गए प्रथम स्वतंत्रता - संग्राम की भूमिका से संबंधित भावनाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी । इन रचनाओं के मूल में उपनिवेशीय शक्तियों से संघर्ष करने की प्रेरणा कहीं न कहीं निहित जरूर थी । वैसे मूल स्तर पर , शिल्प व वस्तुवस्तु के संबंध में ये रचनाएं परम्परावादी ही ठहरती हैं ।

भाववादी आलोचकों की यह एक " महत्वपूर्ण धारणा " रही है कि यह काल भारतीय समाज के पतन व नैतिक ह्रास का काल था इसलिए इस काल में न तो कोई महत्वपूर्ण कवि अथवा लेखक पैदा हुआ और न ही कोई ऐसा प्रखर ऐतिहासिक व्यक्तित्व जोकि , जातियों से टूटती भारतीय सामंतीय शक्तियों को पुनः प्रतिष्ठित करने की दिशा में मदद करता । इसी तरह की अतिसरलीकृत भाववादी निष्पत्तियों का दायरा बढ़ाते हुए लिखा है कि - " हिन्दी साहित्य के इतिहास में 19 वीं शताब्दी का जहां अन्य अनेक दृष्टियों से महत्व है वहां संत समुदायों के पतन की दृष्टि से भी यह शताब्दी महत्वपूर्ण है । हाथरस के तुलसी साहब (1763 - 1843 ई०) के बाद न तो कोई प्रसिद्ध और उल्लेख - नीय संतकवि या धार्मिक - गुरु हुआ और न किसी नए और महत्वपूर्ण संत संप्रदाय की ही स्थापना हुई । इस पतन का एक प्रधान कारण यह था कि यह आन्दोलन एक तो पहले से ही अशिक्षित लोगों के हाथों में रहा , उस पर भी आलोच्य काल में यह और भी समाज के निम्न वर्गों तक ही सीमित हो गया । ये वर्ग शास्त्रीय और दार्शनिक सिद्धान्तों से नितांत अपरिचित थे । " जातियों से छिन्नीय ऐसे आलोचक यहां अपनी साहित्यिक व गैरसाहित्यिक आलोचना संबंधी अपनी दृष्टि व मान्यताओं को साफ किया है । उनकी नजर में देशाव , बिहारी , मतिराम , केशव , पद्माकर आदि ही रीतिकालीन परंपरा के " दार्शनिक " व " शास्त्रीय " आधारों के प्रतिनिधि थे । उसी " वर्ग " दार्शनिक " व " शास्त्रीय " ज्ञान से पीड़ित उन उच्चवर्गीय कवियों ने अपनी रचनाएं कीं । लेकिन संतकवि निम्नवर्गीय व अशिक्षित थे - यह बिल्कुल सत्य है । लेकिन छात्रीय की श्रेणी के आलोचक - आलोचकों ने इस की साहित्यिक सांस्कृतिक गतिविधियों के मूल - स्त्रोतों और वर्गीय आधारों को ढकने के लिए ही इस तरह की विद्वत्तापूर्ण - अज्ञानता और कामचलाऊ बचकानेपन का सहारा लिया है ।

कबीर आदि निम्नवर्गीय होने के साथ - साथ अशिक्षित भी थे तथा संतकवि भी थे फिर उन्हें इतनी सामाजिक - साहित्यिक ख्याति क्यों मिली । दरअसल इस प्रकार के भावावादी आलोचकों के सामने एक विकट भरी सीमा यह भी है कि वे 'कार्य व प्रभाव' को कारण मान बैठते हैं जोकि उनकी नियति का अपरिहार्य हिस्सा है । वे संतकवि व उस परम्परा को वस्तुगत आधारों से काटकर अध्ययन करते हैं । जहाँ तक संतकवि - परंपरा के पतन का प्रश्न है उसका एक वस्तुगत कारण यही है कि छोटे - बड़े राजाओं तक सीमित रहे अधिकांश संतकवि व उनके आधार इतकाल में इतने सुदृढ़ नहीं रह गए थे कि वे अल्पकाल के लिए संगठित हो रही केन्द्रीकृत सामंती शक्तियों का विरोध कर सकते । उनके मूल आर्थिक आधार - उद्योग - धंधे चौपट हो चुके थे तथा उनके साथ ही उनकी संगठन - कारी शक्ति भी । १७ वीं सदी में मशीनी तरक्की के साथ मूलतः इन तरक्की की साझेदारी लगभग न के बराबर थी क्योंकि परिवर्तन के कारण उदित तरक्की अपना अलग विकास करने में अधिक रुचि ले रहे थे । इस कारण संतकाव्य आंदोलन ही नहीं समस्त भक्ति आन्दोलन भी इन्हीं कारणों से छिन्न - भिन्न हो गया था । दूसरा कारण यह भी रहा कि नैतिक - चेतना के धरातल पर सामंती - विचारधारा ने उन्हें प्रभावित भी किया । इस तरह आर्थिक - सामाजिक परि - वर्तन के अनुरूप ही भक्त - संत कवियों के आराध्य , उद्देश्य और साहित्यिक - कलात्मक अभिव्यक्ति के तौर - तरीके भी बदलते चले गये । रूप प्रताप सिंह द्वारा अवधी में रचित 'सुसिद्धान्तोत्सव' (१८२० ई) इसी प्रकार के परिवर्तनों की प्रवृत्ति से प्रभावित स्वरूप को जाहिर करती है जिसमें राम १८ वीं व १९ वीं सदी के सामंतीय व अर्द्धसामंतीय वातावरण में रहते हैं । स्वामी भगवतदास रामानुजी द्वारा १८३२ में रचित 'रामकंठाभरण' पदों एवं मुक्तकों का संग्रह है जिसमें जिसमें राम एवं सीता की शृंगारिक - क्रीड़ायें आदि दिखाई गई हैं । कहीं - कहीं तो सीता को पूरा की आम नायिका की तरह पेश किया गया है ।

रीतिकाल में , सामंतीय कुलीनों , शिष्ट आचरणों एवं नैतिकताओं तथा कुल मिलाकर सामंतीय चेतना की प्रतिकृति का आधार जिसे बनाया गया वह था सूर के काव्य का नायक कृष्ण जोकि अब नितांत भिन्न रूपों में ढलकर 'सामंतीय - प्रतिरूप' धारण कर चुका था । कृष्ण की यह प्रतिकृति

आम जनता में प्रचलित कृष्ण के मूल से कटने के कारण ही बनी ठीक उसी प्रकार ° राम ° की भी दुर्गति हुई । इस काल के साहित्य में प्रतिष्ठित सामंती चरित्र प्रधान कृष्ण व आम जनता की चेतना व परम्पराओं में मौजूद राम व कृष्ण की चेतना व स्वरूप में कई बुनियादी अन्तर है । विदित है कि इस काल के अधिकांश कविताकारों ने , बहुसंख्यक प्रजा से कटकर ही अपने निजी एवं साहित्यिक , सांस्कृतिक मूल्यों , दृष्टियों , पैमानों आदि का विकास किया । वे समानांतर रूप में विकसित व प्रतिष्ठित सामंतीय चेतना , नैतिकता , संस्कृति एवं विचार - धारा के उत्पादन की प्रक्रिया में सामंतों के साथ ही समान रूप से भागीदार थे । इसे इस काल के साहित्य में निर्मित नायक कृष्ण के चरित्र के विकास के माध्यम से भी समझा जा सकता है । इस काल के साहित्य में कृष्ण के चरित्र के विकास में अनेक बदले स्वरूप व नवीन पक्ष शामिल हुए । पूर्ववर्ती भक्तिकाल में कृष्ण को एक छोटे सामंतीय परिवार में अवस्थित दिखाकर आमजन और सामंती वर्ग के मध्य सौहार्द व एकता पर आधारित समाज पैदा करने की कोशिशें की गई । कहना न होगा कि यह वह काल था जब शासक वर्ग शासित - शोषित वर्ग से अलगाव की गंभीर प्रक्रिया में पड़ चुका था अतः विकसित होती उस दूरी को पाटने तथा निर्गुणवादी समानता के दार्शनिक सिद्धान्तों से निबटने के लिए ही ऐसा करना पड़ा । रीतिकाल में उसी कृष्ण को लोक जीवन व सामंतीय जीवन में दो भिन्न रूपों में अपनाया गया । सामंती दायरे में खींच लिए गए कृष्ण को सामंतीय रंगों एवं संस्कारों से पोत दिया गया । भक्तिकाल में जहाँ कृष्ण की छवि ग्राम वीथियों , निम्न - जातियों व वर्गों के मध्य बजती थी वहीं दूसरी ओर बाद में रीतिकाल में कृष्ण की छवि शृंगारी व ऐश्वर्ययुक्त राजमहलों के गलियारों तथा कमरों में बजने लगी । संक्रमण काल की अपठित होती परंपरा में तो यह और भी घिनौना होता चला गया । कृष्ण की लीलाओं का परित्याग कर उसे विशिष्ट भारतीय सामंत बना दिया गया तथा अब वह ° दरबारी नायक ° था । यह नायक युद्ध और मैदान से बचकर विभिन्न लेपों और वस्त्रों के पीछे सामंती रीतिकाव्य का ° माडल ° हीरो बन गया । वह सामंती दृष्टि , लीलाओं , जीवन, भावनाओं और विचारधारा का ° थ्रिलिंग हीरो ° था । संक्रमणकाल में भी छोटे - बड़े अधिकांश कवियों ने कृष्ण की इसी प्रतिच्छवि

को आधार बनाकर कविकर्म की पूर्तियां करते हुए अच्छी निभाया । 1831 में लिखित दीनदयाल गिरि (1802 - 1858) के " अनुराग बाग " में तो कृष्ण का व्यक्तित्व कम उभरा है बल्कि विभिन्न प्रकार शृंगारिक लीलाएं ही अधिक है । इन्हीं गिरि ने अपने एक अन्य ग्रंथ " वैराग्य - दिनेश " में शृंगार रस की अतिशयता ही प्रदर्शित की है —

जंघ युगल शोभित मनहुं कदली थंभ स्वरूप ।
निरखि क्षीण रमनीय कटि विपिन बस्यो मृगभूप ।।
सुभग उदर लावण्य निधि नाभि भंवर छवि छीन ।
तहां मालमणि रत्न जनु त्रिबलि लहरि धुति - दीन ।।

इसी प्रकार महाराज रघुराजसिंह कृत " आनंदाम्बुनिधि " (1853) व " रुक्मिणीपरिणय " (1850) राधा एवं कृष्ण की लीलाएं , क्रीणाएं , विरह , नखशिख आदि से भरी हुई है । कृष्ण सलाम व जुहार करते है ।

संक्रमण काल में विशेषित ऐसी रीति साहित्य परम्परा के प्रमुख अवशेष के रूप में दीनदयाल गिरि का स्थान महत्वपूर्ण है । इनके ग्रंथ " अनुराग बाग " में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का बडे ही ललित कवित्तों में वर्णन हुआ है । मालिनी छंद का भी मधुर प्रयोग हुआ है । " दृष्टांत तरंगिणी " में नीति संबंधी दोहे है । "[1]

उदाहरणार्थ -

चल चकई तेरि सर विषे , जंह नहि रैन विछोह ।
रहत एक रस दिवस ही , सुद्रढ हंस संदोह ।
सुद्रढ्य हंस संदोह मोह दरु द्रोहन जाको ।
भोगत सुख - अंबोह , होय दुख होय न ताको ।
कोमल मनोहर मधुर सुरताल सने ,
नूपुर निनादनि सों कोन दिन बोलिहै ।
नीके मम ही के वृंद वृंदन सुमोत्तिन को ।
गहि के कृपा की अब घोघन सों तोलि है ।।

---

1. रामचन्द्र शुक्ल , हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ० 269

मेम अरि छेम सौ प्रभुत्व पोय दीनदयाल ।
प्रेम कोकनद पीष कज छौ कलोलिऐ ।।

चिन्तदेव (182 - 196) भी रीतिकाव्य परम्परा के अंतिम कवियों में से एक प्रमुख कवि थे । उन्होंने भी ८ कलोवेदा रीतिबद्ध पेटर्न पर ही रचनाएँ की ।

खरि खरि छन सबन् जोगा धोरि ।
छरि - छरि चित्त ऐंद चलावे ना ।।
चिन्तदेव की सौ छा छुए अत दाँव ।
एके पासकी धपीपा । छु पिया की धुनि गावे ना ।।
धिरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे साथ । ए रे ।
मटकि - मटकि मोर सोर छु मचावे ना ।
एरी तोरि छन प्रान । प्रान घात तर्जाई छा ।
कनक ऐंद छु छकास चढ़ि आवे ना ।।

इनकी कविता से यह तो स्पष्ट ही है कि भावों के स्तर पर चिन्त देव परम्परा का ही निर्वाह करते थे । उनकी अधिकांश कविताएं इसी ढंग की थी । उनमें नवपन की झलक नहीं मिलती । हालांकि वे अंतर उपज - पुथल के बाद एकर काव्य - रचना करते थे । लेकिन उन्होंने अपने आस - पास उपस्थित प्रकृति को कब ध्यान से निहारा इसीलिए उनकी भाषा में ताजापन मिलता है । उनके जुटाए हुए अलंकार आदि उपकरणों में एक आंतरिक स्वाभाविकता झलकती है - बासीपन नहीं मिलता । इसमें दो राय नहीं कि रीति - कविता से जुड़े लोगों में उनके कवित्त एक बड़ी सीमा तक स्थान ग्रहण करते थे । ° चिन्त देव के बारे में शुक्ल जी प्रतिक्रिया रही है कि - ° ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों की परम्परा में इन्हें अन्तिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए । जिस प्रकार लक्षण ग्रंथ लिखने वाले कवियों में पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध कवि है उसी प्रकार सच्ची शृंगार परम्परा में ये । इनकी सी सरस और भावमयी मुक्त शृंगारी कविता और किसी कवि में नहीं । °[1]

---

1. रामचन्द्र शुक्ल । हिन्दी साहित्य का इतिहास । pp 273

परवर्ती काल में सामंतीय चेतना से प्रभावित भक्ति काव्य की खंडित रूढ़ियां भी बाद में आकर अनेक विसंगतियों एवं विरूपणों से न बच सकीं। इनकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई। दरबारी संस्कृति काल में विघटित व अपचयित होने वाला सामंतीय ढांचा ही कुछ इस चमत्कारपूर्ण किस्म का था कि पूर्ववर्ती विविध रंग, तेवर व गंध वाली कविताएं व उनकी रूढ़ियां विभिन्न काव्याभिव्यक्तियों में अस्तित्ववान थीं। भक्ति के क्षेत्र में, [1] सामान्य झलक - भक्ति के अंतर्गत कवियों में ज्ञान, स्तुतियां, अभिभक्ति, वैराग्य, विवेक, माया, गुरु - महिमा, प्रेम, हृदय की सात्विकता, नाम, सत्संग, संयम, कलियुग के प्रभाव, कर्म, आत्म, राम या कृष्ण या अन्य पौराणिक भक्तों की गाथाएं इत्यादि के संदर्भ में रचनाएं की। [1] इस काल में भी काव्यशास्त्र के अनेक रूपगत पक्षों, अंगों, भागों, विभागों जैसे गुण, ध्वनि, अलंकार, रस आदि पर भी अनेक छोटे - मोटे ग्रंथ लिख डाले गए। इसके अलावा [1] रीति की दृष्टि से 19 वीं शताब्दी में दो काव्य - संग्रह तैयार हुए - नवीन सागर संपादित सुधार [98] और सरदार द्वारा सम्पादित [1] शृंगार - संग्रह [1] [48]। सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार इन संग्रहों में भी शृंगार - रस के अंतर्गत नायक - नायिका भेद, नखशिख, षट्ऋतु, संचारी, हाव, विरह इत्यादि विषयों को प्रधानता दी गई है। [2]

दरबारी संस्कृतिकाल में जिस गति व एक निरंतरता में समाज के एकाधारों के स्तर पर नए गतिशील, विस्तृत और दृढ़ संदर्भों पर आधारित विभिन्न रूढ़िबद्ध अभिव्यक्तियों ने स्वयं का विकास किया, उसीके उसी गति व निरन्तरता में रूढ़ि, जर्जर व प्रतिगामी पुराने रूढ़िबद्ध - अभिव्यक्ति - रूपों: धीरे: कमजोर पड़ते गये। कहना न होगा कि सामाजिक - राजनैतिक चेतना के धरातल पर जब तक सामंतीय सम्बन्ध थोड़े या बहुत प्रभुत्व में रहे, साहित्यिक - सांस्कृतिक आदि सांस्कृतिक उत्पादन में भी उनका प्रतिनिधित्व उसी अनुपात से हुआ। सामाजिक विकास क्रम के इस महत्त्वपूर्ण मोड़ पर समाज के एक अंग और पक्ष में विकास की

---

1. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 18
2. वही, पृ० 21

एक नई प्रक्रिया चल पड़ी थी जिसके परिणामस्वरूप उभरता एक ऐसा वर्ग सामाजिक संरचना के संतुलन और सामाजिक उत्पादन के क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की दिशा में अग्रसर था। यह नया वर्ग अपने साथ ही एक ऐसे नवीन वर्ग, श्रमिक वर्ग को जन्म देने वाला सामंतीय जिसमें - पुराने को फाड़ कर बाहर निकलने को उत्सुक था। और ताजी खुली प्रतिस्पर्धा एवं चेतना में अपने में उसकी भयंकर क्षय - शीलता भी कर रहा था। यह नया श्रमिक वर्ग उपनिवेशीय तानाशाही से भी समझौता आदि के माध्यम से उचित सहायता प्राप्त करता रहा लेकिन कुलतः यह वर्ग अपने देशीय आधारों पर अधिक निर्भर होने की चेष्टाओं में भी लगा रहा। समाज की नींव में चल रही परिवर्तन की सक्रिय प्रक्रियाओं से निःसृत ऊर्जा ने इन वर्गों की चेतना को नए व जटिल रूपों में ढालना शुरू किया, जिसके कारण यह नवीन - चेतना न केवल 'पुराने रूढ़' के प्रति बल्कि वर्तमान के प्रति भी सचेत होती जा रही थी। अतीत और वर्तमान से प्राप्त किए गए अनुभव को आत्मसात कर उस नई चेतना ने स्वयं के भविष्य की दिशाओं को भी समझने और निर्धारित करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किए। अतः हम कह सकते हैं कि संक्रमण काल में नवीन - चेतना ने लेते हुए नए मानव ने अपना लिए सामंतीय गतिहीनता व ठहराव के तालाब की सतह को छोड़कर उर्ध्वगामी दिशा की ओर बढ़ाया। मुक्ति की इस लम्बी व कष्ट प्रधान प्रक्रिया में उसने तब तक अपने विरोधियों के प्रति हथियारों को नहीं डाला जब तक कि उसके पैर पूरी तरह निडर हो धरती नहीं आ गए। यहाँ हमें एक बार फिर स्पष्ट कर देना चाहिए कि जिस गति से पुराने बहुआयामीय निर्बाध सामंती ढाँचे में परिवर्तनों का सिलसिला शुरू हुआ तथा उसी के साथ उसके विभिन्न बौद्धिक और कलात्मक प्रतिमानों का अपक्षय, विघटन, विघटन और विसर्जन भी होता रहा क्योंकि उसी गति व विकास क्रम में नवीन आर्थिक, भौतिक, सामाजिक, कलात्मक आदि रूपों का उत्पादन व विकास हुआ।

साहित्यिक - सांस्कृतिक चेतना के धरातल पर नए के उदय एवं विकास की प्रक्रिया का स्पष्ट अनुभव 19 वीं सदी के प्रारंभिक बंगाल से होना शुरू हुआ। बंगाल में परिवर्तनों के स्वरूप के अनुकूल विचारधारा के निर्माण की शुरुआत वस्तुतः कुछ पहले अर्थात् 18 वीं सदी के अन्तिम दो दशकों में हो चुकी थी।

इसके परिणामस्वरूप सर्वप्रथम बंगाल में ही दूसरे सामाजिक - शैक्षणिक मूल्यों व परम्पराओं में पले मध्यम वर्ग की नींव पड़ी । इस मध्यम वर्ग के व्यक्ति की चेतना में कुछ - मिले जुले समायोजित दृष्टिकोणों ने पले न केवल आस - पास की घटनाओं की ओर बल्कि साथ में खुद के अतीत की ओर झांकने का प्रयत्न शुरू किया । फलस्वरूप प्रतिबंध रहित मुक्ति की कामना उसमें पनपी । हेनरी डीरोजियो (1809 - 1831) ने इसी कामना को साहित्यिक - अभिव्यक्ति देते हुए कहा :-

" मेरे देश ! बीती हुई गरिमा के दिनों में तुम्हारे ललाट के चारों ओर एक सुन्दर प्रभामंडल व्याप्त था और पूजा एक देवता के समान होती थी । वह गरिमा कहाँ है ? अब वह गुहा कहा है ? शर्मिंदा गुलाम के समान तुम्हारे पैरों को जंजीर से जकड़ दिया गया है, और तुम नीचे धूल में औंधे पड़े हो । तुम्हारे चारण को तुम्हारी विपन्नता की दुखद कहानी के सिवाय गुंथने के लिए कोई माला नहीं है । "[1]

---

1. My country in the days of glory past
A beautious halo circled round thy brow
And worshipped as a diety thou wast.
Where is that glory? Where that reverence now?
Thy eagle pinion is changed own at last,
And groveling in the lowly dust art thou.
Thy mistrel hath no wreath to wave for thee
Save the poor story of thy misery.

विपिन चन्द्र , आधुनिक भारत , पृ० 104 से उद्धृत

डीरोजियो ने इस भाव - बोध पर आधारित अनेक कविताएं जैसे - ° द पार्थ आव पण्डिया °, ° द पण्डिया °, ° द फकीर आव झुंगीरा ° आदि लिखी । दरअसल इस काल में उदयोन्मुख पूंजीवादी शक्तियों तथा सामंतीय शक्तियों के मध्य ही नहीं बल्कि यूरोपियन और भारतीय सांस्कृतिक आदि विभिन्न मूल्यों के मध्य टकराहट व चर्चा धीरे - धीरे बढ़ता जा रहा था । इन्हीं परिस्थितियों के मध्य रहते हुए राजा राम मोहन राय एक तरफ पत्रकारिता की नींव डालते रहे तो उसके साथ ही दूसरी तरफ सामाजिक रूढ़ियों के विरोध में विवेकशील सुधारों की आवश्यकता पर भी बल दे रहे थे । इन्हीं विविधकोणीय सामाजिक - आर्थिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप बंगाल के पहले नाटक ° द फैमेक्टड ° (छौजी) की उत्पत्ति हुई । चौथे और पांचवे दशक के आरम्भ में , बंगाल में ही रही सामाजिक परिवर्तनों की व्यवस्थित साहित्यिक अभिव्यक्ति की शुरुआत हुई । माइकेल मधुसूदन दत्त ने अनेकों लेखों , नाटकों आदि के माध्यम से उसे एक निश्चित गति प्रदान की । उनकी लम्बी कविता ° द वेंटिव लेडी ° में भारतीय मिथकों और लीजेन्ड्स के आस - पास बुना गया आधुनिक विचारों का ताना - बाना एक वर्णनात्मक क्रम में आता है । चूंकि यह पूंजीवादी व्यवस्था में ° व्यक्ति ° की वैयक्तिकता पर अधिक जोर दिया जाता है अतः हम देखते हैं कि बंगाली कविता में वस्तुगत एकात्मता तथा गीतात्मकता ने व्यापक स्थान ग्रहण करना आरम्भ किया । माइकेल के उत्तराधिकारी बंकिमचन्द्र चटर्जी ने 6 वें दशक की समाप्ति के आस - पास एकीकरण और सक्रिय विरोध पर आधारित उपन्यास °आनंद - मठ ° की स्थापना की जिसने तत्कालीन परिवर्तनशील समाज में राष्ट्र - वादी विचारों की उपस्थिति का चेतन आभास लोगों के समक्ष रखा । निःसंदेह बंकिमचन्द्र सामाजिक समानता पर आधारित व्यवस्था में दृढ़तापूर्वक समर्थक थे । 1870 के आस - पास प्रकाशित ° समता ° नामक एक लेख उनके चिंतन के जनतांत्रिक आधारों को व्यक्त करता है ।

कहना न होगा कि नवीन परिवर्तनों और परिस्थितियों के परिणामस्वरूप निर्मित वातावरण के दबाव को एक और अधिक समय के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता था क्योंकि पुराना अपनी अन्तिम क्षीणताओं , त्रुटियों और आधार सहित विलीन होने की स्थिति में था । चेतना के धरातल पर

उसके सामाजिक दबाव लगातार बढ़ते चले जा रहे थे। प्रजा सामाजिक - आर्थिक अंतर्विरोधों के उस काल में जहां एक ओर मिटते हुए के प्रति करुणा व शोक था तो दूसरी ओर पुराने संस्कारों व मान्यताओं से जन्मी विशिष्ट चिंतना और लगाव से बाहर आने की छटपटाहट भी। दरबारी काव्य साहित्य के सामाजिक आधार भी खिर रहे थे। ऐसे में उनपर आधारित संकीर्ण कला की दीवारों में घुट रहे कवियों को मुक्ति न मिलना असंभव है। गालिब ने इस कैफियत को बड़ी खूबी बयान -

बकदरे शौक नहीं जर्फे तमन्ना[1] ये गजल।
कुछ और चाहिए वुसअत[2] मेरे बयां के लिए॥

नवीन गालिब, आर्थिक रूप से संगठित उभरते स्रोतों के सामने पुराने सामंती सोच - समझ अभिव्यक्तियां, दृष्टि और दृश्य मिलाकर कहें तो उस समग्रता में पुराने तंत्र और उसकी किसी भी बाह्य अभिव्यक्ति को बचाया नहीं जा सकता था - इस एक 'नई दुनिया' की रचना का युग पदार्पण कर रहा था -

उगना बदन में उसके है सब्जे[3] का धोखा।
खंजर से चमन में सैरे[4] गुलफाम[5] के लिए॥

हालांकि गालिब ने सामंतीय जीवन के ढर्रे में रहते हुए अपने जीवन - शैली का निर्माण किया था। उसी में जी कर साहित्य - साधना की। अतः उस वातावरण के लिए उनके मन में एक सहानुभूति का भाव भी निहित था -

गालिब भी मर गये तो कुछ ऐसा डर नहीं।
दुनिया में क्या दो और मेरा यादगार जो॥

हालांकि सामंती तंत्र में कार्यशील प्रभुत्वशाली शक्तियों ने खुद ही सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण को यथावत मानने की ऐतिहासिक भूल की थी। जोकि सही रूप जाय तो उस व्यवस्था की ऐतिहासिक सीमा अधिक थी। अतः उस वातावरण की तरस - तरस और मिटते हुए देखकर, उसी दुनिया व समाज कल्पना का जाल भी बुना गया - शायद सर्वंकष दृष्टि के अभाव के कारण ही ऐसा हुआ -

---

1. गजल का तंग मैदान, 2. विस्तार, 3. हरियाली में सीन, 4. मुआयना

दस्ती के मत - फ़ैज़ मे आ जाएयो असद ।
आलम तमाम हल्का - ए - दामे - ख़याल है ।।

(कल्पना का जाल, माया , छलना इत्यादि)

इस तरह हम देखते है कि पुराने की धरती पर खड़े लेखक मध्यम की राह के फीकी से विस्तृत मैदान की ओर झुकी पुरी गतिशिल की साहित्यिक - चेतना मे इस युग की परिवर्तन से भरी धड़कनों को कहीं अधिक अच्छी तरह महसूस किया ।

संक्रमण काल के अंतिम वर्षों की साहित्यिक गतिविधियों मे गुणात्मक परिवर्तन हो रहा था । नए के भावी स्वरूप की एक झलक साफ - साफ उभर कर सामने आ रही थी । खड़ी - बोली हिन्दी नई परिस्थितियों से तालमेल करती हुई लगातार आगे बढ रही थी । संक्रमण काल के प्रारंभिक वर्षों मे (1826 - 27) हिन्दी का प्रथम अखबार (उदंत मार्तण्ड) निकला । इसके बाद सीमित प्रारूपों के स्तर पर संचेतना और जागृति के विभिन्न माध्यमों ने जनता का परिचय नई - शक्तियों के साथ कराया । नव - बुद्धिजीवी वर्ग कुछ भी गतिविधियों का विस्तार करता हुआ आगे बढा । इसी का नतीजा था कि 1830 के आसपास हिन्दी - क्षेत्र मे अनेकों छापेखाने कायम हो चुके थे ।

1832 मे ° इन्दर सभा ° ने साहित्यिक व मेर - [illegible] साहित्यिक क्षेत्रों मे एक नई असरदार शुरुआत की और ° उसमे कोई संदेह नहीं कि इन्दरसभा ° लखनऊ के उस विलास युक्त वातावरण मे ही जन्म पा सकी थी जो चारों ओर रंग - ढंग से बिखर हुआ था । हिन्दु - मुसलमानों के मेल से यहाँ जो संस्कृति पल रही थी उसका परिणाम भी यही होना चाहिए था । ° इन्दरसभा ° मे हिन्दुओं के देवता इन्द्र को इस तरह प्रस्तुत किया गया है जैसे वह ईरानी या मुगल बादशाह हो । [1] मगर उसमे दो राय नहीं हो सकती कि उस विलासी वातावरण को एक नए रूप मे उड़ेलकर प्रस्तुत करना उसी सत्य का परिचायक है कि प्रतिपाद्य के गर्भ मे छुपी हुई शक्तियाँ स्वयं के वातावरण के प्रति [illegible] हो रहे परिवर्तनों से अछूती न रह सकीं । लेखक ने नए को छुए

---

1. एकतारायण पुरोहित , उर्दू साहित्य का इतिहास , पृ० 177

से बाहर निकल अपने को लोक सत्ता एवं उनके लिए संघर्ष नहीं रह गया था। वास्तव में ° इन्द्रसभा ° का स्वगत ढांचा लोक - प्रचलित नाट्य रूप ° रास ° से ग्रहण किया गया जिसमें वर्णित वस्तु एवं ° लखनौपन ° के साथ समायोजित कर ली गई। ° संगीत और नृत्य पर आधारित यह काव्य - रचना एक विशेष साहित्यिक व ऐतिहासिक महत्व रखती है। इसको देखकर और बहुत सी सभाएं लिखी गई। पर कोई सभा इतनी लोकप्रियता को नहीं पहुंच पाई। इस नाटक में उसी परम्परा का दृश्य दृष्टिगोचर होता है जो मजीर की दिल्लगी, मीर - हसन की मसनवी और अंसार की रचनाओं में मिलती है। ° [1] दरबारी इन कृतियों में अश्लीलता और विलासिता के आधार पर खड़ी सामंतीय व्यवस्था की विकृतियों, मजबूरियों और कमजोरियों को अंकित करने के साथ ही साथ - मानव के सहजातों को भी नजरंदाज नहीं किया। ° इन्द्रसभा ° का काल सामंती तत्वों द्वारा अपने ° रंगिन वातावरण ° के उपभोग का अंतिम काल था। उस समय तक खड़ी - गली सामंती व्यवस्था की जड़ लगी चेतना की लौ काफी मद्धिम पड़ चुकी थी क्योंकि उसमें प्रचलित पदार्थ कमोबेश समाप्ति में था। उसके साथ - साथ दूसरी ओर नई गतिशील व्यवस्था की चेतना के दीपक की लौ लगातार तीव्र होती जा रही थी। यह लेखक दरबारी सामंतीय दीपक की ° ढैरी सभी ° को चीरती हुई उसपर की बढ़ रही थी जिसको संक्रमण काल बाद ने भारतेन्दु काल में साहित्य में चित्रित किया।

यह ऐतिहासिक विकास - क्रम का एक वस्तुगत नियम है कि - ° जब किसी कार्य के लिए ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से उचित भूमि ° तैयार हो जाती है तो उसके पनपने - फूलने में देर नहीं लगती। उस समय का भारत - वर्ष उसके लिए तैयार हो गया था कि उसमें राष्ट्रीय भावना और देशभक्ति की भावना प्रबल की जाय और गदर के बाद निराशा की जो लहर फैली है उसे मिटाया जाय। इसलिए रूढ़िवादियों के विरोध के बावजूद नए साहित्य ने जन्म ले लिया। ° [2] 6 वें व सातवें दशक का मध्य उस नए साहित्य की पूर्वावस्था

---

1. रामबाबू सक्सेना, उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० 197
2. वही, पृ० 216

का पहला चरण भारतेन्दु में संक्रमण काल का अंतिम चरण था। जिसकी अभिव्यक्ति हिन्दी में अनूदित ग्रंथों और नाटकों की रचना से हुई। स्वयं भारतेन्दु ने भी आरम्भ गद्य साहित्य की रचना अनूदित विद्या नाटक के साथ ही किया। " विचारणीय बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेन्दु के पहले " नाटक " के नाम से जो दो - चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें महाराज विश्वनाथ सिंह के " आनंद रघुनंदन नाटक " को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चन्द्र ने सबसे पहले " विद्या सुन्दर नाटक " का बंगला से सुन्दर हिन्दी में अनुवाद करके संवत 1925 (1868 ई०) में प्रकाशित किया। " [1] ध्यान रहे कि उसने पहले राजा लक्ष्मण सिंह " शाकुंतला नाटक (1862) लिख चुके थे। शुक्ल जी द्वारा उठाई गई " नाटकत्व " न होने की समस्या का एक बड़ा कारण यह भी है कि उस काल में नाटक , गद्य रूप से आगे तो बढ़ चुका था मगर पद्य का त्याग करने में उसे थोड़ा वक्त और चाहिए था। निज प्रगाढ़ " सितारे हिन्द "," राजा भोज का सपना " लिखकर एक नए भविष्य के एक नए सपने को साकार करने की दिशा में कदम बढ़ा रहे थे। यद्यपि साहित्यकारों की दृष्टि व नए साहित्य का पूर्ण रूप अभी स्थिर नहीं हो पाया था मगर विभिन्न तरहों को नई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने व मिलकर एक सामंजस्य स्थापित करने की दिशा में कोशिश किसी तरह कम नहीं था।

है साथ चला हुआ पुराना भेदों चले - चलो।
आगे मुराद [2] है नया जमाना [3] चले - चलो।।

साहित्य को नई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई इसीलिए उन्हें हिन्दी - साहित्य में नवीन और प्रवृत्तियों का उद्घोषक माना जाता है। साहित्य की विषयवस्तु

---

1. रामचन्द्र शुक्ल , हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ० 308
2. इच्छाओं की घाटियां
3. नया देश वाली

और भाषा दोनों ही स्तरों पर अत्यधिक सीमित दायरों से निकालकर नए रूप और गतिशील विषयवस्तु प्रदान करने में उनका महत्व कम करके नहीं आंका जा सकता। उन्होंने समयानुकूल पद्धति को साहित्य - रचना करते समय अपने सामने रखा। पुरानी परम्पराओं का मूल्यांकन करते हुए भारतेन्दु ने उन उपयोगी पक्षों को नए आयामों के विकास के लिए प्रयुक्त किया। यद्यपि उनकी कविता में रीतिकाल का रंग भी मिलता है जो कि तत्कालीन युग का एक बड़ा दृष्टिकोण था लेकिन फिर भी उनकी अधिकांश रचनाओं में जन - जागृति के नए उद्देश्य की गूंज विद्यमान है। पुरानी परंपराओं के प्रत्येक स्तर का प्रतिनिधित्व भारतेन्दु व उनके सहयोगियों के साहित्य सृजन में मिलता है। दूसरी बात यह कि आधुनिक साहित्यिक - परम्पराओं के प्रत्येक पक्ष के बीज भी उस युग के साहित्य में होते हैं।

भारतेन्दु काल के लेखकों ने समाज के प्रत्येक स्तर से अपनी विषय - वस्तु का चयन किया। मेले - त्यौहारों और तत्कालीन शिक्षित समाज से लेकर जनसाधारण तक के प्रत्येक क्षेत्र से ली गई सामग्री में उनकी बहुकोणीय रचनाओं में स्थान पाया। उन्होंने व्यापक जन - आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को एक विस्तृत के आकाश प्रदान किया जोकि भारतेन्दु - युग की अपनी एक खास विशेषता है। नाटक, कविता, निबंध आदि प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने नए प्रयोग किए। समय की मांग को ध्यान में रखकर विषय - वस्तु का चयन किया तथा उसकी प्रकृति के अनुरूप ही साहित्यिक विधा व शिल्प भी प्रदान किया। इसमें संदेह नहीं कि भारतेन्दु और उनके सहयोगी एक साथ देश - काल, लोक जीवन, लोक - संस्कृति और परम्परा से जुड़े थे। यही कारण है कि उन लेखक - निबंधकारों ने तत्कालीन समय की मन्द की गति को पहचान ही साहित्यिक - सांस्कृतिक रूपों की रचना की। उस काल के अधिकांश लेखक साहित्य एवं भाषा दोनों स्तरों पर व्यावहारिक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़े। उन्होंने अपने जीवनानुभवों को देशकाल की परिस्थितियों के अनुरूप ही काटा, छांटा और तराशकर नवीन व्यावहारिक संभावनाओं की उत्पत्ति की। ऐसा नहीं है कि उन्होंने परम्परा से पल्ला नाता ही तोड़ लिया था बल्कि कहना चाहिए कि उन्होंने उस परम्परा से सीमित व निश्चित लगाव ही रखा जोकि दरबारों के आस - पास पली - पुसी थी।

निःसंदेह उन लेखकों ने लोक - प्रचलित परम्पराओं से अपना मजबूत रिश्ता कायम किया और उन्हें एक स्तर पर विकास के मार्ग पर आगे बढ़ाया। इसमें दो राय नहीं कि रीतिकाल में साहित्य एक सीमित दायरे में सिकुड़कर रह गया था। ° भारतेन्दु ने □ उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ गया था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए - नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र थे पुर। °

वास्तव में, भारतेन्दु काल के आरम्भ से ही मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग राष्ट्रीय रंग - मंच पर तेजी से उभर रहा था। यह वर्ग राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि सभी स्तरों पर विभिन्न चुनौतियों अंतर्विरोधों व समस्याओं से जूझता, उन्हें आत्मसात करता हुआ आगे बढ़ा। उपनिवेशी पूंजीवादी तत्वों से निकलने वाली सहायता धीरे - धीरे बढ़ती जा रही थी। इस स्थिति पर आकर इस काल का आरम्भ हुआ, जिसमें, °

° जो लेखक जीवन और साहित्य के सम्बन्ध को समझते थे वो अपनी जागृति और चेतना के अनुरूप विचारों और साहित्य के रूपों में परिवर्तन करने से नहीं झिझकते थे। जीवन को बदलते देखकर वे साहित्य में भी परिवर्तन चाहते थे। इस नई चेतना का सबसे [अधिक] स्पष्ट विकास हिन्दी में भारतेन्दु और उर्दू में आजाद और हाली के यहां में पाते हैं। आज की आधुनिकता को देखते हुए शायद यह पुराना मालूम नहीं होता है परन्तु नवीन और प्राचीन कड़ियों को जोड़ने के लिए इससे अच्छा अन्य उदाहरण नहीं मिल सकता। उनका युग क्रांति का युग नहीं था बल्कि धीमे परिवर्तन और सुधारवाद का था। उस युग की अपनी विशेषताएं थी और अपनी वर्ग चेतना थी जो प्रत्येक स्थान पर समान रूप से स्पष्ट नहीं होती थी। यह साधारण जनता का युग भी नहीं था बल्कि उसे उभरते हुए पूंजीवाद और मध्यम वर्ग का युग कहना चाहिए। इसमें जिस किसी ने सामंती युग को चुनौती दी और उसकी अपेक्षा नए की स्थिति और औद्योगिक युग को प्रोत्साहन देना चाहा वह उस युग को देखते हुए प्रगतिशील कहा जा सकता है। °[2]

1° रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 506

2° नगेन्द्र राय एवं, उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० 210

इसमें कोई संदेह नहीं कि संक्रमणकालीन ढांचे में रोपे गए आधुनिक - कुछ परिवर्तनों में धीरे - धीरे साथ एक निरंतर व क्रमिक विकास के तहत नई पूंजीवाद पर आधारित चेतना का ताना - बाना बुनना शुरु किया जिसने उसी गति एवं निरन्तरता में साहित्यिक - सांस्कृतिक दायरों में नई ऊर्जा और उष्मता को निःसृत किया । रीतिकालीन परम्परा की गति को रोक उसे पीछे धकेलने का कार्य जितना सरल एवं कठिन था उसे उस काल की एक लम्बी अवधि को देखते हुए बखूबी देखा , समझा और महसूस किया जा सकता है । विभिन्न सामाजिक संरचनाओं की विशिष्ट सौंदर्यपरक - कलात्मक अभिव्यक्ति होने के कारण ही साहित्य , व्यवस्था में घट रहे परिवर्तनों और आन्दोलनों के साथ नहीं बदलता क्योंकि मूलतः साहित्य बदलाव के माध्यम से स्थायित्व की धारणा की पुष्टि करता है । स्तर के स्तर पर मानव की बुनियादी भावनाएं परिस्थितियों से उत्पन्न जटिलताओं को एक निश्चित गति व समय की धारणा के साथ समेटती और बुनती चलती है । एक आवयविक प्रक्रिया के अंतर्गत पनपते अनुभव व विचारों के गठनकारी तरल रेखाएं उस चेतना का निर्माण करते हैं जोकि पुरानी व्यवस्था की सामान्य चेतना की तुलना में गुणात्मक रूप से भारी होती है । उस चेतना को वहन करने वाला निश्चित सामाजिक वर्ग भी धीरे - धीरे अपना राजनैतिक - आर्थिक - सामाजिक अस्तित्व और अस्मित ग्रहण करता है । उस वर्ग की विशिष्ट बौद्धिक प्रणाली और तौर - तरीके और अन्य वर्गों का गठन पॉलगिक विश्लेषण संकुचित नवीन सामाजिक आधारों पर टिका होता है लेकिन म अतीत बनती इतिहास की परम्परा के अंशों की एक निश्चित मात्रा भी उसमें समाविष्ट रहती है । उस अनुभव के तरलों का प्राधान्य , चेतनात्मक स्तर पर तब तक बना रहता है जब तक कि पुरानी व्यवस्था के अवशेष किसी भी रूप में , उसी अनुपात में सामाजिक ढांचे में मौजूद रहते हैं । यही वजह है कि - स्पष्ट तौर पर आधुनिक हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन काव्य परम्परा के स्वरूप छायावाद के आगमन तक मिलते हैं । दरअसल , विलीन होती साहित्यिक गति - विधियों की परम्परा के तरल तभी तक साहित्य अथवा किसी कला में मौजूद रहते हैं जब तक कि उनके सामाजिक आधार मौजूद हैं । ये तरल स्वतः ही अथवा यकायक ही नहीं, स्थापित्य , गतिशील चुंबकीय साहित्यिक गतिविधि के लिए

स्थान छोड़ नहीं देते। वे नेस्तनाबूद होने की सीमा तक संघर्ष करते हैं जैसा कि आधुनिक हिन्दी - साहित्य के प्रथम सौ वर्षों में देखने को मिलता है।

-:-:-:-:-:-:-

तृतीय अध्याय -

समकालीन साहित्य में स्थगत परिवर्तनों का स्वरूप -

समाज और साहित्यिक रूप - विज्ञान में परिवर्तन -

दरअसल , साहित्य में समय - समय पर होने वाले स्थगत परिवर्तनों का सवाल विषयवस्तु की प्रकृति और उसके सामाजिक स्रोतों से जुड़ा हुआ है । और प्रमुखतया , यह विषयवस्तु ही है जो अपने आंतरिक गठन और निर्माणकारी घटकों के अनुरूप ही रूप , भाषा तथा शिल्प का नियमन करती है ताकि वांछित नतीजे को हासिल करने के लिए किसी भी निश्चित सम्प्रेषणी , उद्देश्यों अथवा कार्यवाही को अधिकतम सम्पूर्णता के साथ सम्प्रेषित किया जा सके । अगर सामाजिक परिवर्तन से लेकर साहित्य व कलात्मक रूपों में होने वाले परिवर्तन तक की समूची प्रक्रिया पर एक सकारात्मक समग्र पर आधारित वस्तुगत दृष्टि डाली जाय तो बड़े ही दिलचस्प नजारे साथ ही अत्यन्त जटिल निष्कर्ष सामने आने लगते हैं । तथा इसके साथ - साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य और कला से सम्बन्धित स्थगत परिवर्तन क्रमीधारा दो प्रकार के स्तरों पर सम्पन्न होते हैं । प्रथमतः निरन्तरता में विकास करती किसी रूप - संरचना के साहित्य एवं कलात्मक क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तन तथा द्वितीयतः पुरानी सामाजिक व्यवस्था से एक नूतन नई एवं गुणात्मक स्तर पर भिन्न व्यवस्था के

स्थान ग्रहण करते समय साहित्य एवं कलात्मक स्तरों में होने वाले रूपगत परिवर्तन। उदाहरणार्थ, मध्ययुगीन सामंतीय व्यवस्था के साहित्य एवं कला के क्षेत्र में होने वाले रूपगत परिवर्तनों का स्वरूप व गति, निश्चित तौर पर, सामंतीय व्यवस्था से नई पूंजीवादी व्यवस्था में परिवर्तन के दौरान प्रतिफलित साहित्य एवं कलात्मक रूपों में होने वाले परिवर्तनों से अपेक्षाकृत भिन्न होती है। चूंकि इस दौरान समाज के आधारभूत स्तरों पर बुनियादी परिवर्तनों की प्रक्रियायें कार्यरत् रहती है अतः संरचना के स्तर पर उनके विभिन्न प्रतिफलनों में भी अनुरूप प्रक्रियायें चल पड़ती है। ये अनुरूप प्रक्रियायें अपने निश्चित स्वरूप के साथ यथावत् ही समाज की ऊपरी सतह पर नहीं आ जातीं। इनके प्रतिफलन के दौरान, विभिन्न सामाजिक तत्व अपने नए अभीकरणों का निर्माण करते हुए ही अपने प्रतिफलन का आकार-प्रकार, रूप और भविष्य में विस्तार की गति व दिशा का भी निर्धारण करते है। समाज के ऐतिहासिक विकास का यह क्रम बहुधा लम्बा होता है। इसे संक्रमणकाल की संज्ञा दी जाती है।

समाज के उत्पादन के साधनों में होने वाले परिवर्तनों के स्वरूप का प्रतिफलन, निश्चित रूप से जटिल और धीमी प्रक्रिया का क्रम है। बहुधा यह देखा जाता है कि - "उत्पादन सम्बन्ध बदलते ही साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं बदल जाती। साहित्य में परिवर्तन अपेक्षाकृत धीरे-धीरे होता है और साहित्य के रूप-विधान में तो और धीरे-धीरे।"[1] लेकिन यह वस्तुगत सत्य है कि - "ज्यों उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होता है त्यों सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उनका प्रगट होना अनिवार्य है। परन्तु ऐसा किसी समान अनुपात से नहीं होता। साहित्य रचना के नियम एक बार पैदा होकर अपना मार्ग स्वयं आप निर्मित कर लेते है और साधारण रूप से बहुत जल्दी-जल्द नहीं बदलते।"[2] वास्तव में देखा जाय तो साहित्यिक, सांस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक स्तर पर रूप, विधान, भाषा आदि के स्तर पर होने वाली नवीनीकरण और पुर्नगठन-पुर्नसंयोजन की गतिविधियां धीमी रहती है, लेकिन इनके साथ ही द्रुतगत परिवर्तन के

---

1. डा० मान्धाता सिंह, प्रतिफलन और आलोचना, पृ० 160
2. एकनाथ पुरैन, उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० 70

दौरान विरासत में मिली परम्परात्मक नियमावलियां और उनके विधान भी धीरे - धीरे ही अपचयित और लुप्त होते है । जैसा कि अध्ययन के दौरान हम पाते है । उत्क्रमणकालीन विषयवस्तु और उसके रूपविधान में विशिष्ट प्रकार विधिक बदलाव - प्रदान , सम्बन्ध और स्तर बनते - बिगड़ते है । सामन्तीय दृष्टिकोण पर आधारित साहित्य और उसके रूपतत्व धीरे - धीरे ही नवीन तत्वों को रास्ता देते है । इस प्रकार सामंतीय साहित्यिक - सांस्कृतिक परम्पराएं ° मिटते - मिटते मिटती है और जनमानस को इतनी प्रिय हो जाती है कि आर्थिक परिस्थितियों के बदल जाने पर भी मूल्य उनकी ओर खिंचता रहता है । ° [1] यह तभी तक संभव है जब तक कि समाज में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया समाज के प्रत्येक कोने , सार और तंतु तक नहीं पहुंच जाती । अर्थात् जातीय गठन के कार्य के संपन्न होने तक पुराना अपना अस्तित्व बनाए रखता है ।

संक्रमण व रूपगत परिवर्तन -

जहां तक हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन साहित्य व रूपविधान से आधुनिक साहित्य और रूपविधान में संक्रमण का प्रश्न है , जातीय गठन और उस प्रक्रिया की ठोस - सजीव परिपाक को बनने व उभरने में बहुस्तरीय पेचीदगियां शामिल होती जान पड़ती है । मान लिया कि संक्रमण काल में जन्मी व विकसित हुई नवीन साहित्यों का विकास कुल मिलाकर ऊर्ध्वगामी एवं आगे अनुरेखीय न होकर बहुत वक्रीय और खण्ड - खण्ड था कि नए विचारों का धरातल चुनने में उसे अनेकों वर्ष लग गए । सांस्कृतिक - साहित्यिक रूपों और सम्प्रेषण के माध्यमों के गठन और विकास की प्रक्रिया में भी उसी तरह की बहु - स्तरीय जटिलताओं का अक्सर सामना होता है । विश्लेषण के दौरान बहुतसारे सामान्यीकरणों से बचना कम आसान नहीं । लेकिन फिर भी सामंतीय ढांचे के विघटन और भिन्न - भिन्न स्तरों पर हुए विभिन्न बहुभुज परिवर्तनों के गुणात्मक एवं मात्रात्मक स्वरूप के बारे में एक संतुलित समझ के आधार पर साहित्यिक

---

1. रघुवीरराम गुप्त , उर्दू साहित्य का इतिहास , पृ0 205

रामविलास ० भाषा और चिन्तन के विकास की प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए उसके स्वरूप की गति व विकास को आँकने की एक सीमा तक सफल कोशिश की जा सकती है ।

खड़ी - बोली : हिन्दी - उर्दू रूप -

वस्तुतः विश्लेषण से इतर दृष्टि रखने वाले अधिकांशतः पाठकवर्गीय और विद्वानों की यह मान्यता रही है कि खड़ी बोली हिन्दी और एक सीमा तक उर्दू के प्रारंभिक रूप और ढाँचे को ब्रजभाषा से लिया । उन्नीसवीं के सन्दर्भ में आने से विभिन्न विद्वानों के साथ खड़ी बोली हिन्दी के मेलजोल आदि का सवाल पुराना । लेकिन ऐसा सोचना तो बहुत ही अच्छा रहा सोचना क्योंकि फिर उसमें एक लम्बी ऐतिहासिक - सामाजिक प्रक्रिया से होकर न गुजरना पड़ता जोकि निश्चित रूप से कष्टप्रद थी । ऐसा नहीं है कि खड़ी - बोली भाषा मिल गई और साहित्य एवं संस्कृति के निर्माताओं ने उसके साथ प्रयोग करने आरम्भ कर दिए । क्रमशः देखा जाय तो ऐतिहासिक काल व उसकी माँग पर साहित्य के विभिन्न रूपों और भाषा को परिस्थितियों के अनुसार ही गढ़ना - मढ़ना पड़ा । यह एक लम्बी ० सार्वकालीन और विस्तृत धारणा की निर्माण प्रक्रिया के शब्दों में हुआ ।

यह एक सामान्य लेकिन महत्वपूर्ण धारणा है कि - ° उत्तर भारत का बहुत सा साहित्य ब्रजभाषा में रचा गया था लेकिन अंग्रेजी शासन की विशेष परिस्थितियों में खड़ी बोली जो भाषा बन गई और ब्रजभाषा एक गई बोली के रूप में । ° [1] दरअसल खड़ी बोली के भाषा बनने की विकास की प्रक्रिया में ही अंग्रेजी और भारतीय मन से सम्बन्धित अनेक सवाल व समाधान निहित है । इस बहस की बुनियाद में हुई सामाजिक - आर्थिक - राजनीतिक धारणाओं के अधिकांशतः पर पहले दो अध्यायों में सैद्धांतिक विश्लेषण चर्चा के साथ ही विश्लेषण भी किया गया है और कुछ नए और सार्थक बातों

---

1. रामविलास शर्मा ० भाषा और समाज ० पृ० 330

पर अधिक जोर दिया जाना उचित ही होगा । प्रथम तो यह कि खड़ी - बोली के भाषा बनने की प्रक्रिया का क्रम मुगल राज्य के केन्द्रीकृत ढांचे के टूटने व सामंतवादी के विकेंद्रण से जुड़ा है । खड़ी बोली भाषा बनने की प्रक्रिया में पहले से पहले यह स्वयं अपने क्षेत्र में बोल चाल के माध्यम के रूप के साथ ही एक दूसरे रूप में भी प्रचलित थी अर्थात् व्यावहारिक गतिविधियों के माध्यम के रूप में । दूसरी ओर विन्ध्य स्थानीय राजाओं के संरक्षण में रीति साहित्य की भाषा ब्रजभाषा बनी । बुंदेलखंड , राजस्थान के अधिकांश हिस्सों एवं मालवा के अधिकांश विन्ध्य राजाओं द्वारा संरक्षित केंद्रों में 19 वीं शताब्दी के मध्य तक ब्रजभाषा में ही काव्य रचना की और यह भी रीतिबद्ध परिपाटी पर आश्रित होकर । साथ व्यापार एवं व्यापक क्षेत्रों के साथ सम्प्रेषण - माध्यम के मामले में खड़ी बोली बदस्तूर बनी रही । क्योंकि उत्तर भारत में तुर्क और मुगल राज्यों के केन्द्र रहने और फारसी के राजभाषा बने रहने से हिन्दी / खड़ी बोली / का विकास अवरुद्ध रहा इसीलिए यह साहित्यिक स्तर पर नहीं आ पाई । मेरठ दिल्ली के आस - पास की भाषा में अरबी - फारसी के शब्दों के उपयुक्त मेल से एक नए रूप का विकास उसने जरूर किया । कालांतर में खड़ी बोली का यही रूप उर्दू कहलाया । उर्दू ने , शुरु - शुरु में बोलचाल के रूप में उन्नति की थी क्योंकि फारसी राजकाज और सामंतीय संस्कृति का माध्यम थी । उधर हिन्दी दरबारों में ब्रजभाषा का बोलबाला था । अपनी अलग आभिजात्य - विशिष्टता को जताए रहने के कारण ही फारसी , व्यापक सामाजिक श्रोताओं के अभाव के बावजूद , सामंतीय वर्गों के मध्य बनी रही । रविकान्त पुरोहित की यह धारणा उचित ही है कि - " फारसी भाषा जो उच्च - वर्ग की सांस्कृतिक और व्यावहारिक भाषा थी भारत में उसकी जड़े भी सुदृढ़ नहीं थीं । इसी लिए जीवन और सामाजिक चेतना के प्रभाव से उर्दू उन्नति की ओर बढ़ रही थी पर उसके साहित्य में वह बल नहीं था जो एक आगे बढ़ते हुए राष्ट्र और प्रगति करती हुई जनता के साहित्य में मिलता है । सामंतवादी युग में साहित्य राज्य - दरबार के संरक्षण और सहानुभूति पर निर्भर होता है और मुगल राज्य इतना दुर्बल हो गया था कि वह उर्दू साहित्य की प्रगति में किसी प्रकार से सहायक नहीं हो सकता था फिर भी साहित्य और कला के सोते सूखे

नहीं थे । मुसलमानों के दरबार में भारतवर्ष की संगीतकला जीवित रही थी और किसी सहारे के बिना उर्दू भाषा साधारण जीवन में अपनी जड़ जमा रही थी । [1] उर्दू खड़ी बोली के बदले प्रसार और फारसी की घटती साख का अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि फारसी के विद्वान भी खड़ी बोली के उस रूप को भाषा का माध्यम बना रहे थे जिसमें अरबी - फारसी के कैसेल शब्दों की बहुतायत रहती थी और जिसे रेख्ता कहते थे । खड़ी बोली उर्दू का ही एक शिष्ट रूप दक्षिण में भी प्रचलित था साथ ही उत्तर में विकसित उर्दू के विकास में सहायक मात्र था । [2] इस सारे वाद - विवाद से यह परिणाम निकलता है कि जो नवीन भाषा उर्दू के रूप में निर्माणित हो रही थी वह उस समय तक लोगों को अपनी ओर न खींच सकी जब तक वह फारसी या उत्तरी भारत की किसी दूसरी भाषा में अपने साहित्यिक भावों को साहित्य के रूप में प्रस्तुत करते रहे । [3]

खड़ी बोली उर्दू -

टूटती सामंतीय व्यवस्था की अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति देने वालों में [illegible] और [illegible] और सौदा का स्थान महत्वपूर्ण है । उससे उत्पन्न पीड़ा और दुःख की इस विधियों में खड़ी - बोली उर्दू के माध्यम से भावों - अभिव्यक्ति के रूप में पेश किया । सौदा ने मसनवी , रौला , कौसर आदि छंदों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया । [illegible] छंद ही नहीं सौदा की शब्दावली ऐसी है जिस पर किसी भी हिन्दी प्रेमी को आपत्ति न होगी । हिन्दी - उर्दू तब भी एक दूसरे के कितना पास थी , इसका प्रमाण यह है कि सौदा ने कहीं कहीं पंक्तियां ऐसा लिखा है कि जिसमें पूर्वार्द्ध छंद उर्दू भाषा में और पिछले [illegible] में है । आश्चर्य करते हैं ये सज्जन । रौला हूं मैं जा में दुख से ।

लिखी पती जो कर में भेटे मिटे न दुख ।
पौनी थी सो हो चुकी , बांचे क्यों सुख ।। [4]

---

1. रामबाबू सक्सेना , उर्दू साहित्य का इतिहास , पृ० 68
2. वही , पृ० 51
3. राम विलास शर्मा , भाषा और समाज , पृ० 513 - 14

इस तरह हम देखते हैं कि खड़ी - बोली उर्दू में भी काव्य - रचना हो सकती थी और हुई भी और इसकी शुरुआत का सम्बंध सामंतीय ढाँचे के पतन से जुड़ा हुआ है। स्वयं ° मीर ° ने उस समय की स्थिति को खड़ी बोली के माध्यम से व्यक्त करने की कोशिशें की -

न मिल मीर अब के अमीरों से तू।
हुए हैं फकीर उनकी दौलत से सब ।।

° मीर ° और सौदा आदि कवि दरबारी से जुड़े थे और उन्होंने कुछ चापलूसी आदि पर भी कविताएं की परन्तु वे दरबारों के आस - पास की चीजों को भी निगाहों से न ओझल हो यही कारण है गजल आदि के माध्यम से इन कवियों ने तत्कालीन और आत्म को कविता का काव्य का केन्द्र माना। लेकिन 18 वीं शताब्दी में ° सबसे पक्की बात तो यह कि पक्की है कि अभी गद्य का विकास नहीं हुआ था और पद्य में सबसे अधिक उन्नति गजल की हुई थी। [1] ° गद्य को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जाना इसलिए भी रुका रहा क्योंकि सामंतीय वर्गों से इतर सामाजिक शक्तियों का विकास अभी रुका पड़ा था। इसलिए खड़ी बोली का बोलचाल का गद्य रूप अभी सीमित व्यापारी तबके के बीच ही प्रचलित था उसके इन बातों को दरबारी वर्ग कोई महत्व नहीं देना चाहता था। लेकिन खड़ी बोली उर्दू के अलावा अपने मूल रूप में उपस्थित थी। यह बात अलग है कि उसे काव्य रचना में स्थान नहीं दिया गया। यह विशिष्ट स्थान केवल ब्रजभाषा को ही प्राप्त हो सका था ° पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही न था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्तमान थी और अब भी बनी हुई है। ° [2] दरअसल मुगल साम्राज्य के पतन से पूर्व से ही ° दिल्ली के आस - पास के प्रदेशों की हिन्दू व्यापारी जातियाँ अग्रवाल ° खत्री आदि ‖ जीविका के लिए लखनऊ ° [3] फैजाबाद ° काशी ° प्रयाग ° पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगी। ° और निश्चित तौर पर उनकी भाषा खड़ी बोली ही थी।

---

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी ° उर्दू साहित्य का इतिहास ° पृ० 71
2. रामचन्द्र शुक्ल ° हिन्दी साहित्य का इतिहास ° पृ० 260
3. वही ° पृ० 279

खड़ी बोली हिन्दी का विकास व ब्रजभाषा -

यह आश्चर्य का मुद्दा होने के साथ - साथ विकासात्मक और ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण है कि जहाँ एक ओर मुगल राज्य के पतन के साथ ही खड़ी बोली हिन्दी , उर्दू के रूप में ही क्यों न सही , कविता का माध्यम बनने लगी थी । उसकी जड़ें न केवल साहित्यिक स्तर अन्य लेखों में भी फैलती जा रही थीं बल्कि हिन्दी साहित्य की दरबारी - काव्य अभिव्यक्तियों में उसे स्थान न मिल सका । जबकि फैला भारतेन्दु काल में ही बोझ - बहुत सम्पन्न हो सका । हिन्दू राज्य - दरबारों में रची गई कविताएँ अत्यधिक चमकीली और चमत्कृत ब्रजभाषा में ही पुष्ट पैसा क्योंकर संभव हुआ जबकि उत्तर व मध्य भारत में लगभग सभी स्थानों पर सामंतीय एकाधिकार टूटने लग पड़ी थी । ब्रजभाषा के प्रचार से पहले पहले भी ब्रजभाषा ने व्यापक साहित्यिक अभिव्यक्ति को माध्यम प्रदान किया । समान सामाजिक - आर्थिक परिस्थितियों में खड़ी बोली के उर्दू रूप और ब्रजभाषा का समानान्तर चलना सम्भव हो सका तो क्यों ? जहाँ एक ओर ° मीर ° सौदा और नजीर आदि ने खड़ी बोली के उर्दू रूप को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया वहीं दूसरी ओर पद्माकर , बिहारी , गिरिधर आदि ने ब्रजभाषा में शृंगारयुक्त, अधिकतर दरबारी काव्य को काफी लम्बे बाद तक जारी रखा -

एक पग भीतर और एक देहरी पै धरे ,
एक कर कंज , एक कर पै किवार पर ।। पद्माकर

वह गिरिधर कविराय युक्ति यही ताड़ी ।
पिता , पुत्र के बैर नफा कहु होय पाई ?
॥ गिरिधर कविराय ॥

आपने आपने सुठि गेहन में बैठे सोऊ सनेह की नाव दै दी ।
अंतरान में प्रीतम प्रेम भरे , सबही सहि में बरसा जांव देखी ।।
॥ ठाकुर ॥

18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में केवल नजीर ही एक ऐसे महत्वपूर्ण कवि दिखाई देते हैं जिन्होंने विषयवस्तु के अनुकूल थोड़ी - बहुत रीतिपरम्परा का पालन करते हुए अपनी एक अनोखी शैली अपनायी । जैसे उनके विषय थे वैसी ही भाषा और शैली थी । अगर लिपि के मसले को छोड़ दिया जाय तो नजीर की कविता की शैली और आंतरिक संरचना हिन्दी कवियों (ब्रजभाषा) तथा खड़ी बोली उर्दू के कवियों की भाषा - शैली से अनूठी व विशिष्ट है क्योंकि वह शहरी जीवन के अत्यन्त करीब है जिसमें साहित्य को साध्य मानकर नहीं चला गया । वैसे भी , " नजीर की कविता इस बात की ओर संकेत करती है कि उर्दू में दरबारी कविता के अतिरिक्त एक और परम्परा थी । इस दूसरी तरह की कविता में जन - जीवन का चित्रण था और उसकी भाषा सरल उर्दू या सरल हिन्दी थी जिसे शहर के बाजारों में हिन्दू - मुसलमान आपस में काम में लाते थे । दरबारों के खात्मे के साथ यह लोक कविता की धारा तेजी से आगे बढ़ती और हिन्दू - मुसलमान दोनों को अपने साथ बहा ले जाती । "[1] उनकी भाषा में ब्रजी और खड़ी बोली का चार - तत्विक मेल था । प्रभावकारी सम्प्रेषण को ध्यान में रखकर नजीर ने लावनी व अन्य लोक रूपों को अपनाया । इस बात से पता लगता है कि एक नई स्थिति एवं नई व्यवस्था के उभरते अंकुरों ने आदान - प्रदान की व्यापक भाषा को ऐतिहासिक रूप से महत्व प्रदान करना शुरू कर दिया था । ब्रजभाषा और उसमें रचित साहित्य केवल दरबारी सामंती संस्कृति व सभ्यता तक सीमित रह गया था । यह बात अलग है कि हिन्दी लेखकों ने उसे 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अपनाया लेकिन खड़ी - बोली हिन्दी अब साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनने की दिशा में आसर हो रही थी । 19 वीं सदी के शुरू होते ही वह धीरे - धीरे वास्तविक अस्तित्व में आने लगी । लेकिन उसके गद्य रूपों का विकास होना था । कविता में तो वह और भी बाद में अपनायी गई । नई परिस्थितियों ने पुराने रूपों के स्रोतों को खत्म करना शुरू किया तथा खड़ी बोली के उदीयमान

---

1. राम विलास शर्मा , भाषा और समाज , पृ० 316

रूपों को विकसित होकर व्यापक स्तर तक आने में सहायता आरम्भ की । नई व्यवस्था में न तो ब्रजी को और नहीं अवधी को व्यापक सम्प्रेषण व शासन - प्रदान का माध्यम बनाया जा सकता था । ये भाषाएँ केवल दरबारी साहित्यिक अभिव्यक्तियों के क्षेत्र तक ही सीमित रहीं । लेकिन नई आवश्यकता के लिए प्रचलित भाषा के रूपों की जरूरत थी जो व्यापार और शिक्षा आदि का माध्यम बन सके । पत्र आदि में केवल खड़ी बोली के रूप ही प्रयुक्त हो सकते थे । लेकिन अनेकों वर्षों तक साहित्य में प्रयुक्त होने के कारण अवधी और ब्रजी ने एक सीमा तक आगरे आदि शहरों के लिए बोली भाषा को एक सीमा तक प्रभावित किया जिसका असर काफी बाद तक बना रहा । ° इन दोनों में हिन्दी भाषी जनता वर्ग ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के जातीय गठन में सहायता की । इनमें ब्रजभाषा का प्रसार अवधी से ज्यादा था । हिन्दी प्रदेश के बाहर अन्य भाषा क्षेत्रों के व्यक्तियों ने इसे अपनाया था । जब आगरा और दिल्ली इन दो शहरों का बहुत बड़ी व्यापारी मंडियों के रूप में विकास हुआ । दिल्ली से पहले आगरे का विकास हुआ तब शहरों की भाषा खड़ी बोली बनी और ब्रजभाषा काव्य और संगीत की भाषा रह गई । °[1]

खड़ी बोली के आरंभिक उदाहरणों में उसके दो रूप सामने आते हैं । जैसे अकबर ने अपनी बेटियों की बातों में ° जाए - वाए बड़ी प्यारी ठेठ भाषा का व्यवहार किया है और वर्तमान भी संख्या भारतीय रहे हैं । उनकी छटपटी चलती भाषा का नमूना देखिए :- "इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी । °[2] अकबर के अलावा ° यद्यपि मुंशी सदासुखलाल ने भी अपनी अपनी शब्दों का प्रयोग न कर संस्कृत मिश्रित साधुभाषा लिखने का प्रयत्न किया है परन्तु लल्लूलाल की भाषा में उसमें बहुत कुछ भेद दिखाई पड़ता है । मुंशी जी की भाषा साफ सुथरी खड़ी बोली है परन्तु लल्लू लाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की सी ब्रजमिश्रित खड़ी बोली है । °

---

1. राम विलास शर्मा । भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा । पृ० 161
2. राम चन्द्र शुक्ल० हिन्दी साहित्य का इतिहास । पृ० 286

° सम्मुख जाय ° ° सिर नाय ° ° लीजै ° ° भई ° ° कीजै ° ° निरख ° ° लीजो ° ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए है । ° [1] इसमें संदेह नहीं कि सन्त साहित्य प्रयुक्त भाषा में जहां अलंकारवाद पर काफी जोर मिलता है वहीं दूसरी ओर ब्रजी के अनेकों प्रयोग भी मिलते हैं । ° उनके व्याकरण से एक बात स्पष्ट होती है कि ब्रजभाषा ही खड़ी बोली को प्रभावित नहीं कर रही थी, खड़ी बोली भी ब्रजभाषा को प्रभावित कर रही थी । इसलिए मैं ° ° से ° ° तु ° ° वह ° ° सो ° ° है ° ° से ° ° तक ° ° जो ° ° भये ° [2] ° हुए ° आदि रूप दोनों बोलियों में सामान्य रूप में प्रचलित हो गए थे । °

भाई हमें आप बड़ी देर हुई, अैसों पर चला चाहिए । ‖प्रेमसागर‖

ब्रजभाषा के प्रभाव स्वरूप उसके कई रूपों का प्रयोग भारतेन्दु तक होता रहा । गद्यलिखों की रचनाओं में भी यदा - कदा देखने को मिलता है ।

मुनुष्य मरने पै डरै जिसकी उमीद ।
मरा उमीदी उसकी देखा चाहिए ।।

सूर्य ° पर बड़े गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गंवाकर देखो समुद्र में गिरा जाता है ° ‖ सत्य हरिश्चन्द्र ‖

° यह तो मेरे कंठ को पकड़े पिंड की नाईं पैठे जाता है °

‖ शकुन्तला नाटक लक्ष्मणसिंह ‖

° हमने इस ग्रंथ में कवियों की नाईं बढ़ावा अथवा अत्युक्त और वाक्य वाहुल्य कहीं नहीं किया । ° ‖ शिवप्रसाद ‖

बहादुर शाह जफर की रचनाओं में भी ब्रजभाषा के प्रभाव का सीमितता के साथ अनुभव होता है । यह सिद्ध करता है कि 19 वीं शताब्दी का खड़ी बोली गद्य ब्रजभाषा के प्रभाव को लेकर आगे बढ़ा । कविता में इस प्रभाव को स्पष्टतया देखा जा सकता है जो कि निरिक्त रूप से इन भाषाओं के कुछ जनपदीय आधारों के साथ नजदीकी के कारण ही आया वास्तव में ° खड़ी बोली ब्रजभाषा से अलग रहकर विकसित नहीं हुई वरन् उसके प्रभाव से ही उसने अपना उर्दू - हिन्दी रूप पाया है । उर्दू जितना ही दिल्ली की आम जनता

- - - - - - - - -

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 287
2. डा0 वि0 वर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, पृ0238

की बोली से अपना सम्बन्ध जोड़ेगा उतना ही वह ब्रजभाषा और हिन्दी के करीब आयगी ।[1]

इसमें संदेह नहीं कि खड़ी बोली कविताओं के माध्यम गद्य में अपना विकास अपेक्षाकृत तेजी के साथ किया । 1836 में फ़ारसी को अदालतों से हटाए जाने के बाद 'अंग्रेज' की 'रानी केतकी की कहानी', 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैतालपचीसी' तथा सूरत की 'किस्सा तोता मैना' की खड़ी बोली आगे बढ़ी । 1880 ई० के बाद 'गद्य में उस नए जीवन का आरम्भ हो चुका था जो औरों की अपेक्षा में बड़ी उन्नति कर गया कहा यह जा सकता है कि खड़ी बोली - हिन्दी, पद्य - जड़ता और विकास के प्रभाव से गद्य में पूर्णतया मुक्त हो चुके थे उस समय अधिकतर कवि पुराने ढर्रे पर ही चल रहे थे । राजनीति और सामाजिक विषयों ने कविता में अपना स्थान नहीं बनाया था कविता गद्य में उनके चित्र दिखाई देने लगे थे ।[2] कविता के क्षेत्र में ग्रामीण वातावरण तथा भी दीजै, लीजै, कीयो आदि ब्रजभाषा के रूपों का प्रयोग कर रहे थे साथ उसके साथ - साथ खड़ी और आज़ाद के उस दौर की शुरुआत हो चुकी थी जो गद्य के माध्यम में काफी आगे बढ़ गया था । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी - उर्दू में ही 'सामंती प्रभाव एकाएक खत्म नहीं हो गए, खासकर कविता में यह काफ़ी दिन तक जमे रहे । लेकिन गद्य में खड़ीबोली का इतना बड़ा और जल्दी रूप हुआ । गद्य का यह विकास आसानी से बिना संघर्ष के नहीं हुआ, खड़ी - बोली विचारात्मक गद्य का खड़ीबोली रूप भी चाहती थी, प्रगतिशील विचार - धारा गद्य के रूप को बोल चाल के ज्यादा नजदीक लाना चाहती थी । साहित्य की विषय वस्तु के रूप में उसे बदल डाला, रूप की तुलना में विषय वस्तु ने अपनी नियामक भूमिका अदा की ।[3]

भारतेन्दु युग में आकर साहित्य की अंतर्वस्तु में अभूतपूर्व परिवर्तनों का सिलसिला शुरु हुआ । इस काल में खड़ी बोली हिन्दी के पूर्ण रूप आकर

---

1. रा० चि० शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, पृ०273
2. पद्मनारायण पुरोहित, उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० 203
3. रा० चि० शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० 155

एक ओर मिले जिन्हें भारतेन्दु काल की विन्ध्यवस्तु ने अपने अनुकूल ढालना शुरु किया। स्वयं ° भारतेन्दु ने भाषा का काफी रूप परिष्कृत किया। उन्होंने सम्बद्ध वाक्य रचना में कौशल दिखलाया। शब्दों के रूप भी प्रायः एक से रहे। उन्होंने भाषा का सदासुख लाल के ° सुखसागर ° , सदल जी लाल के ° प्रेमसागर ° और सदल मिश्र के चन्द्रावत में प्रयुक्त किया। °[1]

भारतेन्दु - युग में पुरानी परम्परा का निर्वाह भी हुआ। प्रेमघन के लेखों में हमें 19 वीं शताब्दी के शुरु के गद्य - रूप मिलते हैं। ऐसा शायद इसलिए भी हुआ कि इस काल में हिन्दी अपनी पक्की शैली अपना टकसाल रूप निश्चित करने का प्रयत्न कर रही थी। प्रेमघन के लेखों में वाक्य लम्बे और विराम स्थलों पर अनुप्रास मिलते हैं। शुक्ल जी ने गोविन्द नारायण की बैठकवादी शैली की ओर भी संकेत किया है। ° गद्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा प्रायोगी की सी थी। लिखते समय वाक्य और वंडी उनके ध्यान में रहा करते थे। °[2] लेकिन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने गद्य को सजाया और संवारा तथा उसे निश्चित रूप से जोड़े रखा। अनेक बड़े लेखकों ने भारतेन्दु से प्रेरणा ग्रहण करते हुए गद्य को व्यवहारोपयोगिता के अनुरूप ही ढाला। ° भारतेन्दु युग के सफल लेखकों का गद्य सरल और चुस्त होने के साथ ही सजीव है। इस भरे पौधे की तरह उस गद्य में सजीवता के भीतर दृढ़ता है। °[3]

कविता -

वे लिखते हैं कि गद्य की विधा का विकास जिस तरह हुआ उस तरह से कविता का नहीं। कविता के रूप व भाषा में परिवर्तन का कार्य काफी देर बाद सम्पन्न हुआ। भारतेन्दु और उनके अधिकांश सहयोगियों ने ब्रजभाषा को ही कविता का उपयुक्त माध्यम माना और रचनाएं की। लेकिन उनकी ब्रज - भाषा में लिखी कविता की वस्तुवस्तु निश्चित रूप से भिन्न है। उस युग के लेखकों

---

1. रा० चि० शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० 158
2. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 320
3. रा० चि० शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० 159

पै आम जनता को परंपराओं और युग की आवश्यकताओं को जनता में प्रचलित लोक रूपों के माध्यम से ही रखा। उसी के अनुरूप उनकी भाषा भी संस्कृत - संवरती गई। ° अगर हम भारतेन्दु युग के संपूर्ण साहित्य पर नजर डालें तो पाएँगे कि उसका टिकाऊ हिस्सा वह नहीं है जो सामयिकता से ग्रस्त है, जो तत्कालीन विषयवस्तु और रूपों को ही साहित्य की पराकाष्ठा मानता है बल्कि उसका सबसे टिकाऊ और सजीव हिस्सा वह है जो पुराने रूपों में सामयिकता की नई विषयवस्तु भर रहा था और नई साम्राज्यविरोधी चेतना के अनुसार साहित्य के नए रूप भी गढ़ रहा था। ° भारतेन्दु व उनके सहयोगियों के साहित्य में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जहां पुराने रूपों में तत्कालीन वस्तु निहित है -

दोहा -

कछु तो हेतन में गयो कछु राजहु खाँयि।
बाकी सब व्यौपार गयो रह्यो कछु नाहिं॥

मुकरी -

सब गुरुजन को बुरी बतावै, अपनी छिपछी उनका पकावै।
भीतर तत्व न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेजी॥

पुराने रूपों पर आधारित अनेक पदों व कविताओं की रचना भी इस काल में हुई। उनके कवित्त और सवैयों में स्वाभाविकता और सांस्कृतिक चित्रण अच्छी मात्रा में मिलती है -

सीधे जौं सीधे, भला घाँके हम बाँके जौं
परीछन्द पाए दाबाद अभिलाषी के॥

यह सही है कि इस काल में घासलेटी साहित्य के माध्यम पर उतना बल नहीं दिया गया जितना कि विचारों की नवीनता और सामयिकता पर दिया गया। ब्रजभाषा और उसके विभिन्न रूपों का प्रयोग इस काल के कवियों ने भी किया लेकिन उनमें वह जड़ता और सामंती जीवन पर आधारित विलासी वातावरण का चित्रण नहीं मिलता जोकि रीतिकालीन कवियों की ब्रजभाषा के रूपों में निहित मिलता

---

1. डा० हि० शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, पृ० 129

है । भट्ट जी ने उस कृति पर चोट करते हुए कहा भी है कि - ° ब्रजभाषा में यद्यपि कुछ विलास है पर वह इतनी जनानी बोली है कि उसमें सिवाय शृंगार रस के दूसरा रस आ ही नहीं सकता । ° [1] फिर भी युग की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए भारतेन्दु काल के अधिकतर जागरूक लेखकों ने इस तरह ब्रजभाषा की क्षमताएं इस हद तक बढ़ा दी कि खड़ी - बोली का विकसित रूप न सिर्फ सामने नहीं आ गया । उदाहरणार्थ -

पूट के फल सब भारत बोये । वैरी है गए दुराप जवंबला ।
और मारि सों आपने खिलाने । चित्त मुंज बजरी पुताप जयंबला ।

॥ लावनी ॥

ब्रजभाषा के कवि कुछ विशेष छंदों जैसे दोहा - कवित्त - सवैया आदि का प्रयोग करते आए थे । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काल में भी एक निश्चित सीमा तक इनका प्रयोग किया गया । स्वयं भारतेन्दु ने अपने नाटकों के साथ उपरिलिखित गीत आदि में इनका प्रयोग किया । लेकिन चूंकि भारतेन्दु जनता की भाषा में जनता के लिए साहित्य का सबसे उद्देश्य लेकर चले थे इसलिए लोक रूप लावनी का प्रयोग भी उन्होंने किया । लावनी में पांच पंक्तियों के बाद एक जरूर की पुनरावृत्ति होती है जैसे -

जो राजा की सो रैयत की कुछ होवे
सब मंत्र विचारे दोनों को सुख होवे ।
मंत्री वह है जिसमें यह पौरुष होवे,
सब अंग पले सब मुखिया मुख ज्यों होवे,
सिंहासन में साथे । विवेक मंत्र विचारे ।
सब सब सिख बने सब तरह न विभ्रम पावे ।

हरिश्चन्द्र और प्रताप नारायण आदि ने इसे के पैटर्न पर भी रचनाएं की ।

19 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ° जगन्नाथ दास ° ° रत्नाकर °, सत्यनारायण कवि रत्न ने नंददास ° रासपंचाध्यायी° के रोला छंद का पुनः प्रयोग किया और कविरत्न ने नंददास के भ्रमरगीत में प्रयुक्त छंद का

---

1. डा० वि० गर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा ।
पृ० 10 से उद्धृत

प्रयोग अपने प्रबन्धगीत में किया। अन्य विविध मात्रिक छंद - गीतिका, हरि - गीतिका, बरवै, सोरठा, छप्पय, नांदक, सार, राधिका, चौपाई, चौपई और रूपमाला आदि का प्रयोग भी बढ़ने लगा। वार्णिक वृत्तों का भी प्रयोग कुछ बढ़ा। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने तो 'प्रिय - प्रि प्रवास' महा - काव्य केवल वर्णिक वृत्तों में ही लिखा।[1] 'दास' रत्नाकर जोकि मुख्यतः रूप विषय वस्तु और परम्परा को लेकर चल रहे थे ब्रजभाषा में ही कविताओं की रचनाएं कीं। मैथिलीशरण गुप्त और गोपाल शरण सिंह आदि ने खड़ी - बोली में अनेक प्रयोग करते हुए कविताओं की झड़ी लगा दी। लेकिन भारतेन्दु के समय से काव्य की विषय वस्तु और रूप के मामले में विषय वस्तु में परिवर्तन की जो शुरुआत हुई उसने अनेक रूपों व शैलियों को पीछे धकेलते हुए नवीनीकरण और खोज - बीन के क्षेत्र में अधिक बल दिया। किन्तु एक परिवर्तन तो यह पाया जाता है कि दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि के स्थान पर कवियों ने रोला, छप्पय, अष्टपदी, लावनी, गजल, ठेका और संस्कृत के छंद द्रुतविलंबित छंद शिखरिणी पर अत्यधिक ध्यान दिया और पीछे पाठक ने संस्कृत के अनुकरण पर अतुकांत छंदों का प्रयोग किया।[2]

अंकेक्षण से जुड़े के कारण खड़ी बोली की सजीव परम्परा लावनी व ख्याल में भी विकसित हुई। लावनी पश्चिमी क्षेत्र की एक विशिष्ट शैली थी, जिसमें प्रचलित फारसी के शब्द भी आते हैं और जिसकी भाषा दोआबे से कुछ खड़ी बोली होती है।[3] और जैसा कि हम कह चुके हैं भारतेन्दु के बाद इस शैली की परम्परा उस रूप में आगे न बढ़ सकी। कुल मिलाकर कहीं तो खड़ी बोली में कविता करने के लिए रास्ता बनाना पड़ा इसलिए भारतेन्दु के अन्तिम व द्विवेदी जी के प्रथम वर्षों में इस विषय पर ढेरों प्रयोग किए गए। यह निर्विवाद सत्य है कि द्विवेदी काल में भाषा के रूप स्थिर करने पर जितना जोर दिया गया उतना साहित्य की अंतर्वस्तु के विविध रंगों की

---

1. डॉ० श्री कृष्ण लाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० 118
2. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० 305 - 5
3. एस० वि० वर्मा, भारत की भाषा - समस्या, पृ० 310 - 311

खोज एवं निर्धारण में नहीं । इसका एक महत्वपूर्ण सामाजिक कारण यही है कि - "19 वीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने पुरानी हिन्दी में अनेक तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्द भर दिए ।" [1] डॉ० राम विलास शर्मा का भी यही मानना है कि - "आगे चलकर कुछ हिन्दी साहित्यकारों ने ब्रजभाषा के तद्भव शब्दों को छोड़कर उनके तत्सम रूपों को अपनाने की जो नीति अपनायी, उससे हिन्दी की अपनी विशेषता को काफी धक्का लगा ।" [2] ऐसा भारतेन्दु के बाद से ही होना शुरू हुआ । जब साहित्यिक गतिविधियों के इन प्रमुख तीन आधारों से हटकर हम चलते गए तब भाषा का सवाल दुरूहतावादियों के हाथों में चला गया । लेकिन भारतेन्दु व उनके सहयोगियों ने अपनी भाषा को कृत्रिम और संस्कृतमयी तथा तत्सम शब्दों पर आधारित न होने दिया । वे जानते थे जो भाषा, रूप और विन्यास जनता में प्रचलित नहीं है उनके माध्यम से वे किस प्रकार अपनी बात जनता तक ले जा सकते हैं । भारतेन्दु ने गद्य - पद्य दोनों ही क्षेत्रों में इस नीति का पालन किया । "एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है । वस्तुवर्णन या दृश्यवर्णन में विषयानुकूल मधुर व्यंजक कोमल वर्ण वाले संस्कृत शब्दों की योजना की जो प्रायः समस्त और सानुप्रास होती है । चाल सी चली आई है । भारतेन्दु में यह प्रवृत्ति इस मात्रा में नहीं पाते ।" [3]

इस तरह हम देखते हैं कि काव्य में विषय - वस्तु में परिवर्तन के साथ ही काव्य के रूप बदल गए । 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक ही कविता में ऐसा बदलाव हुआ कि विषय वस्तु समकालीन है लेकिन उसे अभिव्यक्त करने वाले रूप वही पुराने कवित्त - सवैया आदि ही जैसे -

आयो बिकराल काल भारी है अकाल परयो ।
पूरे नाहि अन्न घर भए की बजाई में ।

---

1. डॉ० नामवर सिंह । उपन्यास और आलोचना । पृ० 150
2. राम विलास शर्मा । भारत की भाषा समस्या । पृ० 306 - 9
3. रामचन्द्र शुक्ल० हिन्दी साहित्य का इतिहास । पृ० 307

इस काल में विष्कम्भ - वस्तु और छंद आदि की लेकर विचित्र चित्र के प्रयोग किए गए। उदाहरण के लिए रत्नाकर ने पोप की पुस्तक ° एसेज आन क्रिटिसिज्म ° का रोला छंद में अनुवाद किया था। ब्रजभाषा में पुराने ढर्रे की रचना करने वालों में वीरियोगी मिश्र का भी नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने कृष्ण की भक्ति में लीन होकर बहुत से पदों की रचनाएं की। लेकिन बाद ° घासी ° की गूंज ऐसी नए ढंग - ढंग की रचनाएं भी कीं। इस काल में पुराने ढर्रों में नयी विष्कम्भ वस्तु भरने की परम्परा सी चल गई थी।

काव्य में चमत्कार अथवा उक्ति वैचित्र्य को प्रदर्शित करने वाले उपकरण भी काफी समय बाद तक अपना अस्तित्व बनाए रहे। स्वयं भारतेन्दु की पुरानी चाल की कविता में ऐसी उपमायें व उल्लेखाएं विद्यमान हैं जो लगता है वैचित्र्य पैदा करने के लिए ही भरी गई। लेकिन नई चाल की कविता में उन पर रोक लगाई। बाद के कवियों ने अनुप्रास अलंकार का प्रयोग जिस सीमा तक करना जारी रखा उतना श्लेष, यमक आदि का नहीं जोकि निश्चित रूप से भाषा में चमत्कार पैदा करने के साथ ही विष्कम्भ - वस्तु के साथ चित्र - विचित्र करने के सधे - सधाए भाषाई व स्वगत उपकरण हैं।

नवीन परिस्थितियों में सजे पुराने नाटकों की अनुकरण संगीत से हुई जहां ° कुलीन कुल कुलीन ° के लेखक ने पाश्चात्य और संस्कृत शैली को मिलाकर एक नवीन विधा - शैली का सूत्रपात किया। 1860 ई० के आस - पास माधवेन्द्र मधुसूदन दत्त ने भारतीय एवं पाश्चात्य परम्परा के खिलाफ जाते हुए ° ट्रेजिडी ° नाटकों की रचना की जिसमें पाश्चात्य नाट्य - शैली को अपनाया गया था। उसके पश्चात् 1859 में प्रसिद्ध गीत - संगीत - नृत्य पर आधारित अमानत की ° इन्दरसभा ° भी जो कि निश्चित तौर पर पारसी/ लोक - प्रचलित स्वांग जैसे गीति - नाट्य से प्रभावित थी। लोक प्रचलित रूप - विधान पर आधारित ° इन्दरसभा ° को दृश्यों अथवा अंकों में नहीं बांटा गया है यद्यपि उसकी अंतर्वस्तु एक निरंतरता में आगे बढ़ती है। वस्तुतः अमानत की ° इन्दरसभा ° मध्यकालीन वातावरण और आधुनिक नाट्य - रूपों के मध्य एक कड़ी था जिसके विषय में सुरेश अवस्थी का कहना है कि - ° यह नाटक रूप विधान की दृष्टि से वास्तव में मध्ययुगीन काव्य - पाठ और गाथा -

गीत - गायन परम्परा और आधुनिक विधित नाट्य - रूप के बीच की ऐसी महत्वपूर्ण कड़ी है जिसने मध्य युगीन रचना तत्वों और व्यवहारों को अपना कर उनको आधुनिकता का रूप दे दिया। [1]

इस काल में पारसी रंगमंच का उदय हुआ जो कि विशुद्ध व्यावसायीकरण पर आधारित था। लोक ग्राह्य बनाने के लिए ही उसके निर्माणकर्त्ताओं ने पाश्चात्य तथा देशी - सभी प्रचलित नाट्य रूपों के विविध तत्वों का उपयोग किया। वास्तव में यह नाट्य - रूप ° यूरोप की नाटकीय तकनीकों और भारतीय लोक - नाटकों, स्वांगों, जुलूस - झाँकियों की खिचड़ी था। [2] हालांकि पारसी थियेटर में अतिनाटकीयता का बोल बाला रहा है लेकिन ° एन्दरसभा ° के लिए सभी विभिन्न तत्व जैसे पौराणी - कथायनी, गायन आदि ने उसे ° पापुलर ° रूप प्रदान किया। ° नौटंकी ° जैसे लोक - नाट्यों की लचीली लय को भी उसका हिस्सा बना दिया गया।

पाश्चात्य नाट्य - शैली से प्रभावित तथा एक बड़ी सीमा तक उस पर आधारित बंगला के नाटकों तत्कालीन परिस्थितियों तथा पारसी थियेटर से प्रेरित व प्रभावित होकर ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नाटक रचने की दिशा में अग्रसर हुए। ° रत्नावली - प्रेक्षणकेगिनी ° की भूमिका में उन्होंने इस को स्वीकार करते हुए लिखा भी है कि - ° संस्कृत नाटक के प्रचार से इस भूमिका बहुत कुछ भला हो सकता है। क्योंकि यहां के लोग कौतुकी बड़े हैं। दिल्लगी से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है वैसी और तरह से नहीं। [3]

भारतेन्दु ने तत्कालीन युग में प्रचलित विभिन्न नाट्य - रूपों और शैलियों का अध्ययन किया। पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों से भी वे परिचित थे। उन्होंने समय की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर ही, शास्त्रीय और अप्रासंगिक नाट्य - तत्वों का विरोध करते हुए समयानुकूल नाट्य - रूपों के

---

1. सुरेश अवस्थी, एन्दरसभा : एक रूपगत अध्ययन, शोध संख्या -
2. बलवन्त गार्गी, रंगमंच, पृ0 171
3. सं0 शिवप्रसाद मिश्र, रुद्र का शिवेय, भारतेन्दु ग्रंथावली, खंड -1, पृ0 727

निर्माण पर बल दिया । यही कारण है कि भारतेन्दु ने किसी रूप विशेष या शैली का अंधानुकरण नहीं किया । वे अच्छी तरह समझते थे कि तत्कालीन सामाजिक विषयवस्तु को न तो संस्कृत शैली में व्यक्त किया जा सकता है और न ही पूर्णतः पाश्चात्य में नाटकों की रचना करते हुए उन्होंने संस्कृत , पाश्चात्य आदि के उन्हीं सभी तत्वों को ग्राह्य किया जो कि कसौटी पर खरे उतर सकते थे । धीरे - धीरे लोकसंग्रह व लोक प्रचलित नाट्य रूपों राम लीला , स्वांग , पारसी - थियेटर , रासलीला आदि के तत्व भी प्रासंगिकता के अनुकूल ही , उनकी रचना - शैली में घुलते - मिलते गये । नाटक को लोक ग्राह्य बनाने के लिए भारतेन्दु ने लावनी आदि छंद भी प्रयुक्त किए । नाटक के रूप - विधान के बारे में उनकी एक विशिष्ट अवधारणा थी जो कि उनकी नाटक - परम्परा और अनुकूल तत्व ग्राह्य करने की वास्तविक समझ का परिचय देती है । उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि - " जिस समय में जैसे साहित्य जन्य ग्राह्य हों और देशीय रीति - नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता हो , उस समय में उक्त साहित्य ग्राह्य के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति - पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना योग्य है । "[1]

इस तरह हम देखते हैं कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों और आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही भारतेन्दु ने तत्कालीन समय में उपलब्ध प्रत्येक नाट्य - रूप व शैली का अध्ययन करते हुए उपयोगी व व्यावहारिक तत्वों को ग्राह्य किया । " विद्यासुन्दर " के अनुवाद से लेकर " सती - प्रताप " तक के रचना काल के दौरान भारतेन्दु ने आवश्यकता को ध्यान में रखकर अनेक प्रयोग किये । उनके अनेक साथियों ने भी उनका अनुकरण किया लेकिन मुख्य - प्रवृत्तियों का निर्माण भारतेन्दु ने ही किया । रूप - विधान की दृष्टि से " सत्य हरिश्चन्द्र " उनका एक सफल नाटक है । " भारत - दुर्दशा " (1876) के बाद भारतेन्दु ने शास्त्रीय नियमों की अवहेलना कर पाश्चात्य - शैली

---

1. सं० शिवप्रसाद मिश्र व " रुद्र " का शिवेय , भारतेन्दु ग्रंथावली पहला खण्ड , पृ० 755

को अपनाया तथा नाटकों को अंकों - दृश्यों में विभाजित करना आरम्भ किया। मंगला चरण, प्रस्तावना, भरतवाक्य की अवधारणा की। भीम - देवी ° और ° अंधेर - नगरी ° में संक्षिप्त नए व प्रासंगिक रंग - विधान को अपनाया। विद्यासुंदर ° और - नगरी ° भारत - दुर्दशा, नाट्य - शैली और विषय - वस्तु के स्तर पर एक नए युग से जुड़ा उतरा। यही कारण है कि इतने वर्षों के बाद भी उसकी प्रासंगिकता बनी हुई है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि युग - निर्माता भारतेन्दु अपनी जिम्मेदारी महसूस करते हुए साहित्य के नए - पुराने रूपों को टटोलने में लगे हुए थे कि उन्हें किसी अपनाने से साहित्य उन्नति होगा। एक तरफ उन्होंने संस्कृत के रंग देव ° सत्य हरिश्चन्द्र ° नाटक रचा था, ° वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति, ° ° और - नगरी ° , ° प्रेमजोगिनी ° आदि प्रहसनों में नए प्रयोग किए थे। °

नाटकों में भारतेन्दु और उनके समकालीनों ने लक्ष्य - प्रधान प्रचारात्मक शैली का उपयोग किया जोकि समय के विकास को देखते हुए उचित भी था।

निबन्ध एवं साहित्य आदि के रूप -

व्यापार और शिक्षा तथा शासन भाषा होने के कारण खड़ी बोली हिन्दी व्यापक संप्रेषण और विचारों के आदान - प्रदान का माध्यम बनती गई। वह व्यावहारिक रूप में अपना विकास कर रही थी। ° पत्र - पत्रिकाओं के माध्यम से जब मुद्रित रूप में साहित्य में अपनी संभावनाओं का विस्तार किया तब तो प्रचार का क्षेत्र और भी संकुचित हो गया। गद्य की अनेक उपयोगवादी विधाएं यथा, निबन्ध, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि तेजी से साहित्यिक रूप को अपने लगे। ये सारी साहित्यिक विधाएं नहीं थी

---

1. राम विलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ० 130

वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन को प्रतिबिम्बित करने के सशक्त माध्यम थे।[1]
इस काल ही लम्बी अवधी में सैकड़ों की संख्या में पत्र - पत्रिकाएं सामने आईं। उनकी भाषा मोटे रूप में खड़ी बोली हिन्दी तो थी ही पर सैद्धान्तिक एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह भी थी कि ये पत्र - पत्रिकाएं एक निश्चित जातीय भाषा के स्वरूप को स्थिर करने में लगी हुई थीं। गद्य को लेकर उसके विकास, प्रसार और प्रचार में इन पत्रों की भूमिका कम करके नहीं आंकी जा सकती। इस समय के प्रमुख पत्र आदि थे। बनारस अखबार (1846), सुधाकर (1850), लक्ष्मण सिंह का प्रजा हितैषी (1856), प्रजामित्र (1861), कवि - वचन सुधा (1867), हरिश्चन्द्र मैगजीन (1873) हिन्दी प्रदीप (1877) आदि। लेखों, निबन्धों आदि के माध्यम से ये अखबार विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक समस्याओं को लेकर आगे बढ़ रहे थे। इनमें अधिकांश सभी विषयों पर कुछ न कुछ अवश्य प्रकाशित करते। "उस समय साप्ताहिक पत्रों में तो अधिकतर सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर लेख रहते थे परन्तु मासिक पत्रों में विषयों का कोई निश्चित चुनाव न होता था। साहित्य, राजनीति विज्ञान आदि विषयों के अपने अलग - अलग पत्र न थे। संचालक अपने पाठकों को सभी विषयों की थोड़ी - थोड़ी जानकारी कराना चाहते थे। साहित्य उनमें प्रधान था। परन्तु साहित्य हो या राजनीति लेखक का ध्येय पाठकों को देश की धारा से परिचित कराना तथा उन्हें स्वेतन की पुरानी रूढ़ियों से तोड़ नई विचारधारा की ओर ले जाना था।"[2]

भारतेन्दु और उनके समकालीन इस समय वाग्द्वैत में पूरी तरह हिस्सा ले रहे थे। वे अनुकूल विचारों के अनुकूल ही भाषा एवं उसके रूपों को अपनाते। उनके निबंध राम भाषा विषयों तथा समकालीन बड़ी समस्याओं को लेकर आगे चले। बिना अकादमिक आदि नियमों तथा पचड़ों की परवाह

---

1. गोकुलनाथ चौ चारुत्व, हिन्दी साहित्य के सौ वर्ष, पृ0 163
2. रा0 चि0 शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ0 31

किए उन्होंने पत्रकारिता के माध्यम से उन लेखकों ने जिसे बज को एक बहुमुल्य ग्राह्य रूप दिया जिसके कारण जिसे उस युग का सबसे अधिक विकसित साहित्य - रूप माना जाता है । उन्होंने निबंध आदि के माध्यम से हिन्दी साहित्य के विकास में नवीन आयाम देता किये । भाषा के बहुमुल भाषा व उसके रूपों को ढाला - सवारा । ° पंडितचन्द्र शास्त्र के इन लेखों में उपन्यास भाषा की प्रकृति की पूरी पकड़ थी । संस्कृत के ऐसे ही शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं । जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृतभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक नहीं चलते । उनका प्रयोग वे बहुत आवश्यक में पड़ने करते हैं । °[1]

इस काल में केवल नाटक और निबन्ध की नवीन विधाओं की ही सूत्रपात नहीं हुई बल्कि सामाजिक अंग ने साहित्य में भी उपन्यास विधा के स्वरूप को तय करना आरम्भ किया । उसमें कभी लघुत्तरात्मक रूप पर विकास होना वाली आ आख्यान कंगला आदि से अनूदित लेखों उपन्यास और कहानियां सजी धोती हिन्दी में उपलब्ध थे । बंगला के बंकिमचन्द्र चटर्जी । माइकेल मधुसूदन दत्त और अन्य छोटे - बड़े लेखकों की रचनाएं हिन्दी में अनूदित कर ली गई थीं जिन्होंने एक व्यापक सर्जनात्मक धरातल पर हिन्दी के लेखकों को अपने स्वयं की विधाएं रचने का आधार किया । वैसे तो । ° कालिदास की रचना° । ° एक बहुमुल्य बहुमूल्य स्वप्न° । ° राजा भोज का सपना ° । ° दुर्गा में विवाह रचना का अधिकार ° । ° रमलोक की यात्रा ° आदि रचनाओं में भवानी के अनेक तरह विकास है । उनके लेख में काल्पनिक वस्तुवस्तु गल्पन उसे पत्रिक - चित्रण । स्वाभाविक बातचीत व्यंग्य और पात्र से रचना हुए जानते हैं । °[2] यह ठीक है कि अभी तक कहानी का वास्तविक व मौलिक विकास अभी नहीं हुआ था जोकि उस युग के वास्तविक जीवन - रूपों को ऐसे रूपों में सामने रख सकती लेकिन उस काल के लिखों से यह बात साफ जाहिर होती है कि कहानी का जन्म हो रहा था ।

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास । पृ० 500
2. रा०चित्रगुप्त, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, पृ० 93

उधर इसरी ओर खड़ी बोली उर्दू की साहित्यिक गतिविधियाँ भी पद्य के क्षेत्र में पुरानी रूप ही अपनाएं जाते रहे लेकिन गद्य में फो० गलीर गिलक्रिस्ट ने 1857 में ° मिरातुल उरूस ° नामक लम्बी उपन्यास की रचना की । उसने फारसी के गद्य में ° पेन्ज कोड 6 व ° पंचतंत्र ° का अनुवाद कर चुकी थे । ° इस प्रकार उर्दू उपन्यास की नींव 1857 ई० के पहले पड़ गई थी उसके पश्चात् सज्जाद हुसैन , सज्जाद हुसैन , मिर्ज़ा रुसवा आदि ने उसनींव पर विशाल भवन खड़ा किया । ° [1] इस परम्परा की अनुव्याप्त ने निश्चित रूप से खड़ी बोली हिन्दी के लेखकों को भी प्रभावित किया क्योंकि अधिकांश लेखकों का उर्दू साहित्य के साथ नजदीक का सम्बन्ध था । इसलिए वस्तुतः वास्तविकता व ऐतिहासिक विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखकर भारतेन्दु ने अपने जीवन काल में ही उपन्यास की विधा को विकसित करने पर जोर देना शुरू किया था । उन्होंने अपने अमृतसर के एक मित्र पं० संतोष सिंह को खत भी लिखा कि - ° ऐसे भाषा में बहुत नाटक बन गए हैं , बहुत से उपन्यास नहीं बने हैं । आप या आपके पक्ष के योग्य सरकारी सम्पादक ऐसे बाबू काशीनाथ या गोस्वामी राधाचरण जी कोई भी उपन्यास लिखें तो उत्तम है । ° [2] इस तरह हिन्दी में भी उपन्यास लेखन की विधा में प्रयत्नों की शुरुआत हुई । परम्परा की अनुव्याप्त का श्रेय बाबू श्रीनिवास दास के ° परीक्षा गुरु ° को जाता है जैसा कि विदित है । उसने एक विशिष्ट रूप व कथा साहित्य की नई अनुव्याप्त की घोषणा की । फिर तो राधाकृष्ण दास की ° निस्सहाय हिन्दू ° आदि निकले । इस विधा को एक व्यापक पाठक वर्ग तक पहुंचाने का काम थोड़ा बाद में ही सही , बाबू देवकीनन्दन खत्री ने किया ।

इस तरह हम देखते हैं कि संक्रमण काल में विषयवस्तु के साथ - साथ रूपगत परिवर्तन नहीं हुए । पहले भाषा के विभिन्न रूपों को काँट , छाँट और सजाया गया और फिर युगीन परिस्थितियों के अनुसार उसे वर्ण्यवस्तु का

---

1. पद्मसिंह शर्मा , उर्दू साहित्य का इतिहास , पृ० 27।
2. राम विलास शर्मा , भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा से उद्धृत ।

माध्यम बनाया गया। खड़ी बोली के प्रसार और प्रचार में उसके टकसाली और निश्चित स्वरूप की गहरा। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने अपना विकास गद्य के क्षेत्र में खोजा पहले किया। यह ब्रजभाषा और अवधी आदि से एक सीमा तक प्रभावित रही मगर वास्तव में यह प्रभाव व्यापक क्षेत्रों में उसके व्यावहारिक चलन के कारण ही था। कविता में उसने ब्रजभाषा के साथ संघर्ष किया। भारतेन्दु के बाद उसके तत्सम रूपों के स्थान पर तत्सम रूपों का चलन बढ़ा जोकि सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कुछ निश्चित स्वरूपों के कारण ही संभव हुआ। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों भाषा की प्रकृति को पहचान कर उसके विविध रूपों को उचित माध्यम बनाया तथा साथ ही निबंध, नाटक, उपन्यास आदि की नींव डाली। उन्होंने देश की जागृति के लिए पत्रकारिता को सशक्त माध्यम। उसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य की पहुंच बढ़ने लगी थी। "भारतेन्दु और उनके सहयोगियों का यह क्रान्तिकारी महत्व है कि उन्होंने देश भक्ति से प्रेरित होकर हिन्दी में नया लोकप्रिय साहित्य रचा। उन्होंने हिन्दी भाषा की प्रकृति पहचान कर उसे साहित्यिक ब्रजभाषा और तत्कालीन जनपदीय बोलियों की भाव संपदा से वंचित न होने दिया। उनकी नई चाल थी हिन्दी पुरानी चाल थी हिन्दी के बहुत पास थी, आधुनिक हिन्दी उनकी भाषा से हट जा रही है।"[1]

---

1. राम विलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ० 279

उपसंहार -

भारत के सामाजिक आर्थिक - सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विकासक्रम में 19 वीं शताब्दी का काल एक महत्वपूर्ण और युगांतरकारी चरण था। इस काल में समाज के बुनियादी स्तरों में हुए क्रमशः परिवर्तनों ने समाज और साहित्य के धरातल पर नवीन गतिशील विचारों और रुपों को जन्म दिया तथा इसके साथ ही पुराने रुढ़ियों और संकीर्ण चिन्तन के दायरे को तोड़ा। चीजों को एक नये अपेक्षाकृत वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखने अविष्य की दिशा का निर्धारण भी इसी काल में सम्पन्न हुआ। इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं कि पुरानी व्यवस्था के हामी दार्शनिकों और मूल्य मीमांसकों ने इस संक्रमण काल में नई स्थितियों से मेल खाते विचारों और मूल्यों के साथ ऐतिहासिक संघर्ष किया। शताब्दी के आगमन से पूर्व मुगल - साम्राज्य के विघटीकरण के साथ सामंती ढांचे और जीवन पद्धति का अपक्षय और विघटन होना शुरु हुआ। धीरे - धीरे यह प्रक्रिया आगे बढ़ी। समाज में विज्ञान नई व्यवस्था के पुंजीवाद - तंत्र अपनी सक्रियताओं से विस्तार करते गए। इस तरह एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के ढांचे की नींव पड़ी। धीरे - धीरे साहित्यिक और सांस्कृतिक मोर्चे पर इसके प्रतिफलन की शुरुआत भी होनी थी।

संक्रमण काल में उभरती नई व्यवस्था में विचारों के गठन और प्रगति को अपने अनुकूल रुप देना शुरु किया। इस संक्रमण काल में निहित ऐतिहासिक आवश्यकताओं से युग - अनुरुप शिक्षा और साहित्यिक गतिविधियों का निर्माण - एक ओर निष्पन्न करने के साथ - साथ पुरानी परम्पराओं से रुप रुपों के आगे प्रश्न चिह्न लगाना आरम्भ किया।

समाज में रोपे गए बुनियादी परिवर्तनों के साथ ही साहित्य की अन्तर्वस्तु और रूप - विधान बदल नहीं गए। दरअसल जिस गति के साथ सामन्ती सामाजिक आधार टूटे कमोबेश उसी गति के साथ उस व्यवस्था के साहित्यिक प्रतिमानों और प्रतिच्छवियों में परिवर्तन आया। विषय वस्तु के क्षेत्र में गद्य ने जल्दी पदार्पण किया लेकिन रूपगत परिवर्तनों के मामले में वह भारतेन्दु - काल के बाद तक अपना रास्ता गढ़ता रहा। रीतिकालीन साहित्यिक धारा तब - तक अपना अस्तित्व बनाए रही जब - तक उसके सामाजिक आधार मौजूद रहे।

यह काल अंतर्विरोधों और विचित्र जटिलताओं से भरा काल था। इस से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण सवाल उभरकर आता है वह यह है कि खड़ी बोली-उर्दू के कवि मीर, सौदा, गालिब आदि ने जिस तन्मयता और लगाव के साथ भंग होते सामंती ढांचे और उसके गढ़ों को आत्माभिव्यक्ति से पीड़ा के साथ व्यक्त किया उतना रीतिकालीन हिन्दी कवि नहीं कर पाये। लगभग समान आर्थिक - सामाजिक परिस्थितियों के केन्द्र में रहते हुए भी उर्दू और हिन्दी के कवि अलग - अलग तेवर व रंगों वाली काव्य - रचनाओं में संलग्न हुए। द्विजदेव, पद्माकर, ठाकुर आदि ने ब्रजभाषा में पुरानी घिसपिट विषयवस्तु को ही चुना - बदलाव की धड़कनों को कविता में स्थान देना तो दूर रहा ये कवि दरबारों के विघटित होते सामाजिक आधारों की ओर से भी उदासीन रहे। उनकी कविता के हर स्तर पर माध्यम के साथ चमत्कारी प्रयोगों का सिलसिला मिलता है। यह स्थिति इस सीमा तक पहुंची कि अंतर्वस्तु तक में रूपगत प्रकृति ने घर कर लिया। मगर साथ ही इन दोनों धाराओं से अलग चलते हुए नजीर ने उस काल की वस्तुगत वास्तविकता को अपने काव्य में स्थान दिया। इसके बाद तो केवल भारतेन्दु और हाली में वास्तविकता और लोक - संस्कृति के साहित्यिक प्रतिमान के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु ने साहित्य की विषयवस्तु और रूप - विधान दोनों के स्तरों में मूलभूत परिवर्तन किए। उन्होंने कविता में हालांकि ब्रजभाषा के रूप को ही चुना लेकिन उसकी अंतर्वस्तु तत्कालीकता से जुड़ी है। भारतेन्दु और उनके साथियों ने लल्लू जी लाल और शिवप्रसाद

से विभूषित में मिश्री गद्य को जाँचि ० प्रभाव से प्रभावित की तथा प्रचलित तद्भव रूपों के साथ प्रयुक्त किया । भारत ऐसे प्रभावशाली साहित्य-रूप को गढ़कर तत्कालीन पुष्ट उसे तत्कालीन जीवन की आवश्यकताओं का वाहन पूर्ण माध्यम बनाया । इसी में भाषागीय शैली का महत्व यहाँ । परन्तु इसके गद्य के भावात्मक रूप विशेष को अन्य विद्या विशेष भविष्य में अपनी व्यापकता व उपयोगिता सीख रूप में सीमित थे । वस्तुतः यह काल साहित्य के बोधि पर, गद्य के निर्माण व पुराने से विच्छेद का काल था ।

-:-:-:-:-:-

ग्रन्थसूची-

हिन्दी पुस्तकें -

एलाचार्य मुनि	उर्दू साहित्य का इतिहास मलभारत प्रेस , लखनऊ, 1954
ए० आर० देसाई	भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि मैकमिलन , दिल्ली, ए० हिन्दी सं० 1977
एलक्जेन्डर गार्डनी	इंगलैंड [हिन्दी अनुवाद] राजकमल , दिल्ली, 1969
बिपिन चन्द्र	आधुनिक भारत एन० सी० ई० आर० टी० , दिल्ली, 1976
के० दामोदरन	भारतीय चिन्तन परम्परा पी० पी० एच० दिल्ली
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका लोक भारती , इलाहाबाद , 1971
लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद , 1971
नामवर सिंह	इतिहास और आलोचना राजकमल , दिल्ली, 1970
ओंकारनाथ शीवास्तव	हिन्दी साहित्य : परिवर्तन के नौ वर्ष राजकमल , दिल्ली, 1969
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारिणी सभा , इलाहाबाद , संवत् 2021

रघुवंश पाण्डेय	आज का भारत मैकमिलन ० दिल्ली ० प्र० सिम्बी सं० 1977
रामविलास शर्मा	भाषा और समाज ० 1977
००	भारत की भाषा समस्या ० 1970
००	भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा ० 1975
००	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना 1973 [सभी राजकमल प्रकाशन० दिल्ली से]
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	बड़ी बोली की ० भूमिका ० [उर्दू - हिन्दी] हिन्दुस्तानी पृ० पैन्टरशट्र बम्बई ० 1938
विश्वनाथ मिश्र	भारतेन्दु ग्रंथावली ० भाग - एक
० शुक्ल० आचार्यवैद्य	भाषा प्रकाशिनी सभा ० प्रयाग सं० 2031
० कृष्ण लाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय प्र० सि० सं० 1963

अंग्रेजी पुस्तकें -

1. A History of India: Vol. II P.P.MOSCOW-1979

2. Barun De: Indian Society & the Beginning of Modernization (1830-1890) Cambridge Press, London, 1967.

3. " Perspectives in Social Science OXFORD University Press, Calcutta, 1977.

4. B.B.Mishra: The Indian Middle Classes, OXFORD University Press - 1970.

5. Bishweshwar Prasad: Ideas in History, Asia - 1969.

6. D.P.Mukherjee: Modern Indian Culture IInd Ed. Hind Kitabs, Bombay - 1968.

7. Jawahar Lal Nehru: The Discovery of India, Asia Publishing House, Bombay - 1972.

8. Macaulay: Prose & Poetry.

9. N.G.Bose: Indian Awakening and Bengal FIRMA, K.L.Mukhopadhyay, Calcutta-1969.

10. Romila Thapar: A History of India Vol.I Penguin, London, 1966.

11. V.I. Parlov: Historical Premises for India's Transition to Capitalism. Nauka Publishing House, MOSCOW-1970.

पत्र - पत्रिकाएं -

1. Main Stream: Nov. 4, 1978.

2. Social Scientist: No. 32.

3. नटरंग ‖ हिन्दी रंगमंच : एक्तवीं शती अंक ‖ संख्या - 9 ‖ 1969 ‖

-:-:-:-:-:-:-